श्रीरामः

मङ्गल-घट

श्रीमैथिलीशरण गुप्त

साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

प्रथमावृत्ति

१९९४

मूल्य

२)

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा

साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित ।

वक्तव्य

भिन्न भिन्न विषयों पर लिखी गई गुप्तजी की कविताओं के एक संग्रह की माँग बहुत समय से थी। उसीका परिणाम यह 'मङ्गल-घट' है। इसमें उनकी सभी तरह की कविताओं का सङ्कलन किया गया है। आशा है, हिन्दी प्रेमियों द्वारा यह अपनाया जायगा और साहित्य के जिज्ञासु और विद्यार्थी इससे यथोचित लाभ उठायँगे।

प्रकाशक।

विषय-सूची

।

—

श्रीहरिः

मंगल-घट

निवेदन

राम, तुम्हें यह देश न भूले ;
धाम-धरा-धन जाय भले ही ,
यह अपना उद्देश न भूले ।
निज भाषा, निज भाव न भूले ,
निज भूषा, निज वेश न भूले ।
प्रभो, तुम्हें भी सिन्धु पार से ,
सीता का सन्देश न भूले ।

मंगल-घट

मेरी मिट्टी, मैं बलि जाऊँ,
तुझे पात्र में परिणत पाऊँ।

खुले खेत से लाकर छानूँ,
जल दूँ, खार मिलाकर सानूँ,
सनूँ स्वेद में, किन्तु न मानूँ
जब लों लोच न लाऊँ।
मेरी मिट्टी, मैं बलि जाऊँ।

तू ही मेरी चाँदी - सोना,
आघातों से खिन्न न होना,
रूप बनेगा सुघर सलोना,
पहले पिण्ड बनाऊँ;
मेरी मिट्टी, मैं बलि जाऊँ।

चले पिता का चक्र नियम से,
बैठ शिला पर तू शम-दम से;
उठे एक आकृति क्रम क्रम से,
भली भाँति मैं भाऊँ।
मेरी मिट्टी, मैं बलि जाऊँ।

फिर भी तुझको तपना होगा,
कष्टों से न कलपना होगा,
यों मङ्गल-घट अपना होगा,
भर घर-घर धर आऊँ।
मेरी मिट्टी, मैं बलि जाऊँ।

१९८७ वि०

याञ्चा

दया भी करोगे ? दया - धाम हो,
रमो चित्त में आप तो राम हो।
हमें शक्ति दो, भुक्ति दो या न दो,
विभो ! भक्ति दो, मुक्ति दो या न दो ॥
गुणातीत हो, या निराकार हो,
हमारे लिए तो तुम्हीं सार हो।
सभी ठौर हो सृष्टि में जो हरे !
पुनः दृष्टि से हो कहो, क्यों परे ?
तजो शून्यता और साकार हो,
पुनः रूप में भाव - विस्तार हो।
बनें चर्म के चक्षु भी धन्य ये,
तुम्हें छोड़ देखें किसे अन्य ये ॥

कई जन्म का हाय ! विश्लेष है।
कहो, क्या अभी और भी शेष है ?
नहीं किन्तु चिन्ता कि न्यारे रहें ;
तुम्हारा सदा ध्यान धारे रहें ॥
व्यथा हो न जो भूमि को भार की,
नहीं है हमें भीति संसार की।
तुम्हारे जगद्राज्य में भीति क्या ?
हमारे लिए है नई नीति क्या ?
तुम्हारा जगद्राज्य जीता रहे,
सदा प्रेम-पीयूष पीता रहे।
बढ़े शान्ति ज्यों चन्द्रमा की कला,
सभी के भले में हमारा भला ॥
हमें ध्यान दो, ज्ञान दो या न दो,
गिरा-गान दो, मान दो या न दो।
तुम्हारे गुण-ग्राम गाया करें ;
इसी भाँति विश्राम पाया करें ॥
नहीं लालसा है विभो ! वित्त की,
हमें चेतना चाहिए चित्त की।
भले ही न दो एक भी सम्पदा,
रहे आत्म-विश्वास पूरा सदा ॥

नहीं माँगते हीर या हेम दो,
दिया विश्व तो विश्व का प्रेम दो।
सहें दुःख आपत्तियों से घिरे,
रहें किन्तु दुर्वृत्तियों से फिरे॥
न छूटें भले ही कभी बन्ध से,
फिरें मोह के मार्ग में अन्ध से।
न भूलें तुम्हारी निराली छटा,
घिरी ही रहे नित्य काली घटा॥
रहें सर्वदा दुःख में, सोच क्या?
तुम्हारा दिया दुःख, सङ्कोच क्या?
नहीं मृत्यु से किन्तु जी में डरें,
तुम्हें देखते देखते ही मरें॥
भिखारी खड़े हैं, जरा ध्यान दो,
न दो और तो दृष्टि का दान दो।
मरें या जियें भाग्य को लेख लें,
तुम्हारी अपाङ्ग-प्रभा देख लें॥

१९६९ वि०

सम्बन्ध

मुझे नहीं ज्ञात कि मैं कहाँ हूँ,
हरे! यहाँ हूँ अथवा वहाँ हूँ।
विचारता किन्तु यही यहाँ हूँ
नहीं वहाँ क्या तुम, मैं जहाँ हूँ?
चाहे जहाँ क्यों न बना रहूँ मैं,
हूँ कौन? सो तो पहले कहूँ मैं।
हाँ, जो तुम्हें मैं कुछ मानता हूँ,
तो कौन हूँ मैं यह जानता हूँ।
सम्बन्ध जो है तुम आप जानो,
मैं हूँ तुम्हारा, यह सत्य मानो।
हूँ तो तुम्हारे बल से बड़ा हूँ,
मैं आप साक्षी अपना खड़ा हूँ।

सर्वज्ञ सर्वेश सदा स्वतन्त्र,
तुम्हीं चलाते यह विश्व यन्त्र।
पाती तुम्हीं से गति गात्र नाड़ी,
मैं हूँ खिलौना, तुम हो खिलाड़ी।
है व्यर्थ वाक्य-व्यय और सारा,
सदैव मेरे तुम, मैं तुम्हारा।
मेरा तुम्हें ध्यान सभी कहीं है,
मैं और मेरा फिर क्या नहीं है ?
जाने मुझे लोक अनाथ चाहे,
थामें न कोई यह हाथ चाहे।
सनाथ हूँ मैं, तुम नाथ मेरे,
सभी कहीं हो तुम साथ मेरे।
विश्वास जो प्राप्त हुआ तुम्हारा,
मेरा वही है बल वित्त सारा।
आशा तुम्हारी मन से न टूटे,
छूटा करे सङ्ग न रङ्ग छूटे।
वांछा यही है अब एक मात्र,
रहूँ सदा मैं तव दृष्टि-पात्र।
स्वदेश ही हो अथवा विदेश,
उद्देश मेरा प्रभु का निदेश !

१९७२ वि०

मातृभूमि

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है;
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं;
वन्दीजन खग-वृन्द, शेष-फन सिंहासन हैं;

करते अभिषेक पयोद हैं,
बलिहारी इस वेष की!
हे मातृभूमि, तू सत्य ही
सगुण मूर्ति सर्वेश की॥

मृतक समान अशक्त, अवश, आँखों को मीचे
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे;
करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था,
लेकर अपने अतुल अङ्क में त्राण किया था,

जो जननी का भी सर्वदा,
थी पालन करती रही।
तू क्यों न हमारी पूज्य हो?
मातृभूमि मातामही!

जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं;
परमहंस-सम बाल्य काल में सब सुख पाये,
जिसके कारण 'धूलि-भरे हीरे' कहलाये;

हम खेले-कूदे हर्ष युत
जिसकी प्यारी गोद में।
हे मातृभूमि, तुझको निरख
मग्न क्यों न हों मोद में?

पालन पोषण और जन्म का कारण तू ही,
वक्षस्थल पर हमें कर रही धारण तू ही;
अभ्रंकष प्रासाद और ये महल हमारे,
बने हुए हैं अहो! तुझी से तुझ पर सारे;

हे मातृभूमि, हम जब कभी
तेरी शरण न पायँगे।
बस, तभी प्रलय के पेट में
सभी लीन हो जायँगे॥

हमें जीवनाधार अन्न तू ही देती है,
बदले में कुछ नहीं किसीसे तू लेती है;
श्रेष्ठ एक से एक विविध द्रव्यों के द्वारा,
पोषण करती प्रेम-भाव से सदा हमारा;

हे मातृभूमि, उपजें न जो
तुझ से कृषि-अंकुर कभी।
तो तड़प तड़प कर जल मरें
जठरानल में हम सभी॥

पाकर तुझसे सभी सुखों को हमने भोगा,
तेरा प्रत्युपकार कभी क्या हमसे होगा?
तेरी ही यह देह, तुझीसे बनी हुई है,
बस, तेरे ही सुरस-सार से सनी हुई है;

फिर अन्त समय तू ही इसे
अचल देख अपनायगी।
हे मातृभूमि, यह अन्त में
तुझमें ही मिल जायगी॥

जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है खोता,
जिस प्रेमी का प्रेम हमें मुददायक होता;
जिन स्वजनों को देख हृदय हर्षित हो जाता,
नहीं टूटता कभी जन्म भर जिनसे नाता;

उन सब में तेरा सर्वदा,
व्याप्त हो रहा तत्व है!
हे मातृभूमि, तेरे सदृश,
किसका महा महत्व है?

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है;
षड्ऋतुओं का विविध दृश्य युत अद्भुत क्रम है,
हरियाली का फर्श नहीं मखमल से कम है;

शुचि सुधा सींचता रात में
तुझ पर चन्द्र प्रकाश है।
हे मातृभूमि, दिन में तरणि
करता तम का नाश है॥

सुरभित, सुन्दर, सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं,
भाँति भाँति के सरस, सुधोपम फल मिलते हैं;
ओषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली,
खानें शोभित कहीं धातु-वर रत्नों वाली;

जो आवश्यक होते हमें,
मिलते सभी पदार्थ हैं।
हे मातृभूमि, वसुधा-धरा
तेरे नाम यथार्थ हैं॥

दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी;
नदियाँ पैर पखार रहीं हैं बन कर चेरी,
पुष्पों से तरु-राजि कर रही पूजा तेरी;

मृदु मलय-वायु मानों तुझे
चन्दन चारु चढ़ा रही!
हे मातृभूमि, किसका न तू
सात्विक भाव बढ़ा रही?

क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेममयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है;
विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दुखहर्त्री है,
भयनिवारिणी, शान्तिकारिणी, सुखकर्त्री है;

हे शरणदायिनी देवि, तू,
करती सब का त्राण है।
हे मातृभूमि, सन्तान हम,
तू जननी, तू प्राण है॥

आते ही उपकार याद है माता ! तेरा,
हो जाता मन मुग्ध भक्ति-भावों का प्रेरा;
तू पूजा के योग्य, कीर्ति तेरी हम गावें,
मन होता है— तुझे उठा कर शीश-चढ़ावें;

वह शक्ति कहाँ, हा ! क्या करें,
क्यों हमको लज्जा न हो ?
हम मातृभूमि, केवल तुझे,
शीश झुका सकते अहो !

कारण वश जब शोक-दाह से हम दहते हैं,
तब तुझ पर ही लोट लोट कर दुख सहते हैं।
पाखण्डी भी धूल चढ़ा कर तन में तेरी,
कहलाते हैं साधु, नहीं लगती है देरी,

इस तेरी ही शुचि धूलि में
मातृभूमि, वह शक्ति है—
जो क्रूरों के भी चित्त में
उपजा सकती भक्ति है !

कोई व्यक्ति विशेष नहीं तेरा अपना है,
जो यह समझे हाय ! देखता वह सपना है;
तुझको सारे जीव एक से ही प्यारे हैं,
कर्म्मों के फल मात्र यहाँ न्यारे न्यारे हैं;

हे मातृभूमि, तेरे निकट
सबका सम सम्बन्ध है।
जो भेद मानता वह अहो!
लोचन-युत भी अन्ध है॥

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान ! कभी हम रहें न न्यारे;
लोट लोट कर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे;

उस मातृभूमि की धूलि में
जब पूरे सन जायँगे।
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम
आत्मरूप बन जायँगे॥

१९६७ वि०

कोई व्यक्ति विशेष नहीं तेरा अपना है,
जो यह समझे हाय! देखता वह सपना है;
तुझको सारे जीव एक से ही प्यारे हैं,
कर्म्मों के फल मात्र यहाँ न्यारे न्यारे हैं;

हे मातृभूमि, तेरे निकट
सबका सम सम्बन्ध है।
जो भेद मानता वह अहो!
लोचन-युत भी अन्ध है॥

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान! कभी हम रहें न न्यारे;
लोट लोट कर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे;

उस मातृभूमि की धूलि में
जब पूरे सन जायँगे।
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम
आत्मरूप बन जायँगे॥

१९६७ वि०

स्वर्ग-सहोदर

जितने गुण सागर नागर हैं,
कहते यह बात उजागर हैं।
अब यद्यपि दुर्बल, आरत है,
पर भारत के सम भारत है॥

बसते वसुधा पर देश कई,
जिनकी सुषमा सविशेष नई।
पर है किसमें गुरुता इतनी,
भरपूर भरी इसमें जितनी॥

गुण-गुम्फित हैं इसमें इतने,
पृथिवी पर हैं न कहीं जितने।
किसकी इतनी महिमा वर है?
इस पै सब विश्व निछावर है॥

जन तीस करोड़ यहाँ गिनके—
कर साठ करोड़ हुए जिनके।
जग में वह कार्य मिला किसको,
यह देश न साध सके जिसको।

उपजें सब अन्न सदा जिसमें,
अचला अति विस्तृत है इसमें।
जग में जितने प्रिय द्रव्य जहाँ,
समझो सबकी भवभूमि यहाँ॥

प्रिय दृश्य अपार निहार नये,
छवि वर्णन में कवि हार गये।
उपमा इसकी न कहीं पर है,
धरणी-धर ईश धरोहर है॥

जलवायु महा हितकारक है,
रुज-हारक स्वास्थ्य-प्रसारक है।
द्युतिमन्त दिगन्त मनोरम है,
क्रम-षड्ऋतु का अति उत्तम है॥

सुखकारक ऊपर श्याम घटा,
दुखहारक भूपर शस्य-छटा।
दिन में रवि लोक-प्रकाशक है,
निशि में शशि ताप-विनाशक है॥

छविमान कहीं पर खेत हरे,
वन बाग कहीं फल-फूल भरे।
गिरि तुङ्ग कहीं मन मोह रहे,
सब ओर जलाशय सोह रहे॥

रतनाकर की रसना पहने,
बहु पुष्प-समूह बने गहने।
परिधान किये तृण-चीर हरा,
अति सुन्दर है यह दिव्य धरा॥

बहु चम्पक, कुन्द, कदम्ब बड़े,
वकुलादि अनन्त अशोक खड़े।
कितने न इसे वर वृक्ष मिले,
अति चित्र-विचित्र प्रसून खिले॥

मृदु[१], बेर, मुखप्रिय[२], जम्बु फले,
कदली, शहतूत, अनार भले।
फलराज रसाल समान कहीं,
फल और मनोहर एक नहीं॥

कृषि केसर की भरपूर यहाँ,
मृग-गन्ध, कुसुम्भ, कपूर यहाँ।
समझो मधु का बस कोष इसे,
रस हैं इतने उपलब्ध किसे?

अमृतोपम अद्भुत शक्तिमयी,
जिनकी सुगुण-श्रुति नित्य नई।
इसमें बहु ओषधियाँ खिलतीं,
जल में, थल में, तल में मिलतीं॥

कृषि में इसने जग जीत लिया,
किसने इस-सा व्यवसाय किया?
सन, रेशम, ऊन, कपास अहो!
उपजा इतना किस ठौर कहो?

१ मृदु — अमरूद। २ मुखप्रिय — नारंगी।

अवनी-उर में बहु रत्न भरे,
कनकादिक धातु - समूह धरे।
वह कौन पदार्थ मनोरम है,
जिसका न यहाँ पर उद्गम है?

कवि, पण्डित, वीर उदार महा,
प्रकटे मुनि धीर अपार यहाँ।
लख के जिनकी गति के मग को,
गुरुज्ञान सदा मिलता जग को॥

बहु भाँति बसे पुर-ग्राम घने,
अब भी नभ-चुम्बक धाम बने।
सब यद्यपि जीर्ण-विशीर्ण पड़े,
पर पूर्व-दशास्मृति-चिन्ह खड़े॥

अब भी वन में मिलके चरते,
बहु गो-गण हैं मन को हरते।
इन-सा उपकारक जीव नहीं,
पय-तुल्य न पेय पदार्थ कहीं॥

मृदु[१], बेर, मुखप्रिय[२], जम्बु फले,
कदली, शहतूत, अनार भले।
फलराज रसाल समान कहीं,
फल और मनोहर एक नहीं॥

कृषि केसर की भरपूर यहाँ,
मृग-गन्ध, कुसुम्भ, कपूर यहाँ।
समझो मधु का बस कोष इसे,
रस हैं इतने उपलब्ध किसे?

अमृतोपम अद्भुत शक्तिमयी,
जिनकी सुगुण-श्रुति नित्य नई।
इसमें बहु ओषधियाँ खिलतीं,
जल में, थल में, तल में मिलतीं॥

कृषि में इसने जग जीत लिया,
किसने इस-सा व्यवसाय किया?
सन, रेशम, ऊन, कपास अहो!
उपजा इतना किस ठौर कहो?

१ मृदु – अमरूद। २ मुखप्रिय – नारंगी।

अवनी-उर में बहु रत्न भरे,
कनकादिक धातु-समूह धरे।
वह कौन पदार्थ मनोरम है,
जिसका न यहाँ पर उद्गम है?

कवि, पण्डित, वीर उदार महा,
प्रकटे मुनि धीर अपार यहाँ।
लख के जिनकी गति के मग को,
गुरुज्ञान सदा मिलता जग को॥

बहु भाँति बसे पुर-ग्राम घने,
अब भी नभ-चुम्बक धाम बने।
सब यद्यपि जीर्ण-विशीर्ण पड़े,
पर पूर्व-दशास्मृति-चिन्ह खड़े॥

अब भी वन में मिलके चरते,
बहु गो-गण हैं मन को हरते।
इन-सा उपकारक जीव नहीं,
पय-तुल्य न पेय पदार्थ कहीं॥

मद-मत्त कहीं गज झूम रहे,
मुद मान कहीं मृग घूम रहे।
शुक, चातक, कोकिल बोल रहे,
कर नृत्य शिखी-गण डोल रहे॥

शत पत्र कहीं पर फूल रहे,
मधु-मुग्ध मधुव्रत भूल रहे।
कल हंस कहीं रव हैं करते,
जल-जीव प्रमोद भरे तरते॥

शुचि शीतल-मंद सुगन्ध सनी,
अनुकूल बयार सुदार बनी।
हरती सब का श्रम सेवन में,
भरती सुख है तन में, मन में॥

जगती तल में वह देश कहाँ,
निकले गिरि-गन्ध विशेष जहाँ?
इसमें मलयाचल शोभन है,
जिसमें घन चन्दन का वन है॥

शिर है गिरिराज अहो ! इसका ,
इस भाँति महत्व कहो किसका ?
तुहिनालय यद्यपि नाम पड़ा ,
विभवालय है वह किन्तु बड़ा ॥

वर विष्णुपदी बहती इसमें ,
रवि की तनया रहती इसमें ।
अघ-नाशक तीर्थ अनेक यहाँ ,
मिलती मन को चिर-शान्ति जहाँ ॥

क्षिति-मण्डल था जब अज्ञ सभी ,
यह था अति उन्नत, सभ्य तभी ।
बहु देश समुन्नत जो अब हैं ,
शिशु शिष्य इसी गुरु के सब हैं ॥

शुचि शौर्य्य-कथा इतनी किसकी ,
जग - विश्रुत है जितनी इसकी ?
अमरों तक का यह मित्र रहा ,
अति दिव्य चरित्र पवित्र रहा ॥

ध्रुव धर्ममयी इसकी क्षमता,
रखती न कहीं अपनी समता।
गरिमा इसकी न कहाँ पर है,
किससे न लिया इसने कर है?

श्रुति, शास्त्र, पुराण तथा स्मृतियाँ,
बहु अन्य सुधी-गण की कृतियाँ।
नय-नीति-निमन्त्रित तन्त्र बने;
सब ही विषयों पर ग्रंथ घने॥

कविता, कल नाट्य सुशिल्पकला,
इस भाँति बढ़ी किस ठौर भला?
किस पै न रहा इसका कर है,
किस सद्गुण का न यहाँ घर है?

सुख मूल सनातन धर्म्म रहा,
अनुकूल अलौकिक कर्म रहा।
वर वृत्त बढ़े इतने किसके?
नर क्या, सुर भी वश थे इसके॥

सुख का सब साधन है इसमें,
भरपूर भरा धन है इसमें।
पर हा ! अब योग्य रहे न हमीं,
इससे दुख की जड़ आन जमीं ॥

सुन के इसकी सब पूर्व कथा,
उठती उर में अब घोर व्यथा।
इसमें इतना घृत-क्षीर बहा,
जितना न कहीं पर नीर रहा ॥

अब दीन दयालु दया करिये,
सब भाँति दरिद्र-दशा हरिये।
भरिये फिर वैभव नित्य नया,
चिरकाल हुआ सुख छूट गया ॥

अवलम्ब न और कहीं इसको,
तजिये हरि हाय ! नहीं इसको।
खलता दुख दैत्य महोदर है,
यह भारत स्वर्ग-सहोदर है ॥

१९६६ वि०

मेरा देश

बलिहारी तेरा वरवेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

बाहर मुकुट विभूषित भाल,
भीतर जटा-जूट का जाल।
ऊपर नभ, नीचे पाताल,
और बीच में तू प्रणपाल।
बन्धन में भी मुक्ति निवेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

कभी मुरज-मय वीणावाद,
कभी स्वरों से साम-निनाद।
कभी गगनचुम्बी प्रासाद,
कभी कुटी में ही आह्लाद।
नहीं कहीं भी भय का लेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

है तेरी कृति में विक्रान्ति,
भरी प्रकृति में निश्चल शान्ति।
फटक नहीं सकती है भ्रान्ति,
आँखों में है अक्षय क्रान्ति,
आत्मा में है अज अखिलेश,
मेरे भारत ! मेरे देश !

सरस्वती का तुझ में वास,
लक्ष्मी का भी विपुल-विलास।
प्रिया प्रकृति का पूर्ण विकास,
फिर भी है तू आप उदास।
हे गिरीश, हे अम्बरकेश !
मेरे भारत ! मेरे देश !

मस्तक में रखता है ज्ञान,
भक्ति-पूर्ण मानस में ध्यान।
करके तू प्रभु-कर्म-विधान,
है सत् चित् आनन्द निधान।
मेटे तूने तीनों क्लेश,
मेरे भारत! मेरे देश!

इधर विविध लीला विस्तार,
उधर गुणों का भी परिहार।
जिधर देखिये पूर्णाकार,
किधर कहें हम तेरा द्वार?
हृदय कहीं से करे प्रवेश,
मेरे भारत! मेरे देश।

तन से सब भोगों का भोग,
मन से महा अलौकिक योग।
पहले संग्रह का संयोग,
स्वयं त्याग का फिर उद्योग।
अद्भुत है तेरा उद्देश,
मेरे भारत! मेरे देश।

बनकर तू चिर साधन धाम,
हुआ स्वयं ही आत्माराम,
लिया नहीं तब तक विश्राम—
जब तक पूरा किया न काम।
दिये तुझी ने सब उपदेश,
मेरे भारत! मेरे देश।

१९७२ वि०

स्वप्नोत्थित

सोया मैं, सदियों तक सोया
ऐसा सोया हूँ कि आप ही मैं अपने से खोया

किन्तु नींद जो मुझको आई,
वह कुछ भी विश्रान्ति न लाई।
सौ स्वप्नों ने धूम मचाई,
अपनी अपनी छटा दिखाई।
चिन्ता, शोक, विषाद और भय सबने घोर घटा छाई।
और रुधिर-धारा बरसाई।

बह कर उसने मुझे बहाया और दबोच डुबोया
सोया मैं, सदियों तक सोया!
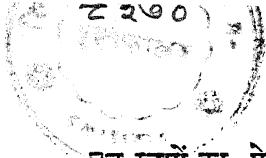
उन स्वप्नों का ऐसा क्रम था—
बस, प्रत्यक्ष भाव का भ्रम था !
लूट-मार से नाकों दम था,
न मैं था न मेरा आश्रम था।
धरा धसकती, नभ फटता था, धुआँधार दुस्तर तम था,
और दस्यु दल अति दुर्दम था ॥

अब भी वही प्रहार निरन्तर सहता हूँ मैं गोया।
सोया मैं, सदियों तक सोया !

पर अब आँख खुली है मेरी,
और दृष्टि भी मैंने फेरी।
फिर भी है सब ओर अँधेरी,
प्रभा प्रकाशित हो अब तेरी।
देखूँ मैं क्या गया, रहा क्या, न कर दया-मय देरी।
बजने दे फिर जीवन-भेरी ॥

किसी प्रकार भार यह मैंने जीवित रह कर ढोया।
सोया मैं, सदियों तक सोया !

तेरी पुण्य पताका फहरे,
मुक्त मुक्ति-पट उसका लहरे।
आँधी उठे, घटा भी घहरे,
मेरी दृष्टि उसी पर ठहरे।
लाख लाख कण्टक हों पथ में, चलूँ जिधर वह छहरे
भय-विघ्नों से हृदय न हहरे

पद पद पर उसका फल भोगे, जो जिसने हो बोया
सोया मैं, सदियों तक सोया

मातृ-मूर्ति

जय जय भारत-भूमि-भवानी !
अमरों ने भी तेरी महिमा
वारंवार बखानी ।

तेरा चन्द्र-वदन वर विकसित
शान्ति-सुधा बरसाता है ;
मलयानिल-निश्वास निराला
नवजीवन सरसाता है ।

हृदय हरा कर देता है यह
अञ्चल तेरा धानी ;
जय जय भारत-भूमि-भवानी !

उच्च-हृदय-हिमगिरि से तेरी
गौरव - गंगा बहती है ;
और करुण-कालिन्दी हमको
प्लावित करती रहती है।

मौन मग्न हो रही देखकर
सरस्वती-विधि वाणी ;
जय जय भारत-भूमि-भवानी !

तेरे चित्र विचित्र विभूषण
हैं फूलों के हारों के ;
उन्नत - अम्बर - आतपत्र में
रत्न जड़े हैं तारों के।

केशों से मोती झरते हैं
या मेघों से पानी ?
जय जय भारत-भूमि-भवानी !

वरद-हस्त हरता है तेरे
शक्ति-शूल की सब शङ्का ;
रत्नाकर - रसने, चरणों में
अब भी पड़ी कनक लङ्का ।

सत्य - सिंह - वाहिनी बनी तू
विश्व-पालिनी रानी ;
जय जय भारत-भूमि-भवानी !

करके माँ, दिग्विजय जिन्होंने
विदित विश्वजित याग किया ,
फिर तेरा मृत्पात्र मात्र रख
सारे धन का त्याग किया ।

तेरे तनय हुए हैं ऐसे
मानी, दानी, ज्ञानी—
जय जय भारत-भूमि-भवानी !

तेरा अतुल अतीत काल है
आराधन के योग्य समर्थ ;
वर्त्तमान साधन के हित है
और भविष्य सिद्धि के अर्थ ।

भुक्ति मुक्ति की युक्ति, हमें तू
रख अपना अभिमानी ;
जय जय भारत-भूमि-भवानी !

१९८४ वि०

विशाल-भारत

उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल !
उठ अमिताभ, लाभ कर निज पद ,
लुटा, लक्ष्य पर लाल ।

जीवन के अरुणोदय में ही
होमामोद पवित्र—
फैल गया पृथ्वी में तेरा ,
बजे त्रिदिव-वादित्र ।
दो देशों के सन्धिपत्र में ,
ओ चिर-चारु-चरित्र ,
साक्षी होते थे तेरे ही
इन्द्र, वरुण, वसु, मित्र :

गूँजे तेरे ही मन्त्रों से
जल, थल, नभ, पाताल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल !

बेध गई वासुकि की मणि को
तेरे मख की मेख,
धर्म्म - स्तम्भ उठे अम्बर में,
शिलातलों पर लेख।
जल पर नहीं, उपल पर तूने
खींची अक्षय रेख,
अब भी देश-विदेशों में निज
शेष मूर्तियाँ देख;
तेरे आदर्शों के आगे
प्रणत हुआ भव-भाल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल !

विश्व-विजय के स्वप्नों में थे
ग्रीस, रोम, ईरान,
और हो रहे थे बेचारे
बस-बस कर वीरान।

तूने ही मैत्री - करुणा का
गाया था तब गान,
पाया था सम्पूर्ण अवनि में
अग्र-दूत का मान;

एक बार तू उस अतीत की
ओर दृष्टि तो डाल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

दिया स्वहेतु महत्व न जिसको
तूने किसी प्रकार,
पर जिसके हितार्थ त्यागा था
राज-पाट, घर-वार,
बाट देखता है फिर तेरी
वह व्याकुल संसार,
सुन, वह चारों ओर मचा है
दारुण हाहाकार।

जकड़ रहा है मकड़-जाल-सा
उसे स्वयं निज जाल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

स्वार्थ आज भी करा रहा है
विषम विश्व-विद्रोह,
सभ्य वेश में, दस्यु दुराशय,
बजा रहे हैं लोह।
नहीं धर्म पर, धन-धरती पर
अड़ा लोभ मय मोह,
वह अशोक-साम्राज्य-निदर्शन
निष्फल था क्या ओह!

तू ही सफल करेगा उसको,
आ, अपना व्रत पाल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

देख रहे हैं सागर तेरे
जल-यानों की बाट,
स्वागतार्थ आतुर, उत्सुक हैं
उनके सारे घाट।
मेटें तेरे बुद्ध वीर फिर
विषम युद्ध-विभ्राट,—
लूट पाट की, मारकाट की,
नर शोणित की चाट।

हृदय हीन हिंसक बदलेंगे
सहज न अपनी चाल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

उठ, फिर देव-पितर अम्बर में
होकर सब समवेत,
देने को उद्यत हैं तुझको
स्वस्ति और संकेत।
उठ, प्रत्यय-दृढ़ निश्चय पूर्वक,
साहस शौर्य्य समेत,
पूर्व प्रमादों से शिक्षा ले,
तज यह तन्द्रा, चेत।
अपने ही अधीन हैं अपने
बन्ध-मोक्ष चिरकाल,
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

विश्व मिलन का भार उठा कर
बैठ न यों तू हार,
"चित्ते दया, समर-निष्ठुरता"
व्यर्थ और विस्तार।

धर्म राम का, कर्म कृष्ण का,
प्रेम बुद्ध का धार,—
और अहिंसा महावीर की,
सर्व समन्वय-सार।

कौन सँभाल सकेगा तुझको,
स्वयं स्वरूप सँभाल,
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

तेरे ही स्वर का साधक है
भव-भविष्य-संदेश,
किन्तु कण्ठ में पाश पड़ा है
तेरे, मेरे देश!
यह कैसा अपमान और हा!
है यह कैसा क्लेश!
आने दे तू आत्म-स्मृति का
एक उष्ण आवेश।

शीतल पाकर ही चन्दन पर
लिपटे हैं बहु व्याल।
उठ, ओ वृहद्, विराट, विशाल!

१९८४ वि०

आभास

अरे, ओ अब्दों के इतिहास !
कह, तू किन शब्दों में देगा युग युग का आभास ?

देख इधर, वह विष ही पीते ,
हमें यहाँ कितने दिन बीते ,
फिर भी अमृतपुत्र हम जीते

जिये आत्म - विश्वास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

पुण्य-भूमि के इस अंचल में,
सिन्धु और सरयू के जल में,
गंगा-यमुना के कल कल में,

अगणित वीचि - विलास
अरे, ओ अब्दों के इतिहास

मन्त्रों का दर्शन, अवतारण,
और दर्शनों का ध्रुव-धारण,
वह उपनिषदों का उच्चारण,

योगों का अभ्यास
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

आत्म-रूप का वह उजियाला,
त्याग, याग, तप की वह ज्वाला,
पावन पवन तपोवन वाला,

वह विकाश, यह ह्रास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

कब की थी वह संचित माया,
जो पसार कर अपनी काया,
पाकर राम-राज्य की छाया,

करती थी सुख - वास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

बजी चैन की वंशी निर्भय,
आया कलि के आगे अविनय,
फिर भी धर्मराज का जय जय,

छाया वह उछ्वास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

हम उजड़ों ने भी बढ़ बढ़ कर,
पार उतर ऊपर चढ़ चढ़ कर,
देश बसाये हैं गढ़ गढ़ कर,

तब भी विना प्रयास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

संघ-शरण लेकर सुखदाई,
फिर भी यहाँ शांति फिर आई,
गूँज गिरा गौतम की छाई,

फिर नव भव-विन्यास
अरे, ओ अब्दों के इतिहास

उदासीनता की दोपहरी,
श्रांतिमयी निद्रा थी गहरी,
तब भी जाग रहे थे प्रहरी,

कर न सका कुछ त्रास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

सहसा एक स्वप्न-सा आया,
वह क्या क्या उत्पात न लाया,
जागे तो यह बन्धन पाया,

हुआ हाय खग्रास।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास!

किन्तु निराश न होना भाई ,
इसमें भी कुछ भरी भलाई ,
तुमने मोहन की मति पाई ,

उठने दो उल्लास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

निज बन्धन भी विफल न जावे ,
विश्व एक नूतन बल पावे ,
बन्धु-भाव में वैर बिलावे ,

अनुपम ये दिन-मास ।
अरे, ओ अब्दों के इतिहास !

कर्तव्य

भावुक ! भरो भाव रत्नों से ,
भाषा के भाण्डार भरो।
देर करो न देशवासी-गण
अपनी उन्नति आप करो ॥

एक हृदय से एक ईश का
धरो विविध विध ध्यान धरो।
विश्व-प्रेम-रत, रोम रोम से—
गद्गद निर्झर-सदृश झरो ॥

मन से, वाणी से, कर्म्मों से,
आधि, व्याधि, उपाधि हरो।
अक्षय आत्मा के अधिकारी,
किसी विघ्न-भय से न डरो॥

विचरो अपने पैरों के बल,
भुज-बल से भव-सिन्धु तरो।
जियो कर्म्म के लिए जगत में
और धर्म्म के लिए मरो॥

१९७२ वि०

भाषा का सन्देश

भाषा का सन्देश सुनो, हे
भारत ! कभी हताश न हो।
बात क्या कि फिर अरुणोदय से ,
उज्वल भाग्याकाश न हो ॥

दिन खोटे क्यों न हों तुम्हारे
किन्तु आप तुम खरे रहो ,

खाली हाथ हुए, हो जाओ,
पर साहस से भरे रहो,
हरि के कर्मक्षेत्र ! हरे हो
और सर्वदा हरे रहो।

बात क्या कि फिर देश, तुम्हारा
पूरा पुनर्विकाश न हो।
भाषा का सन्देश सुनो, हे
भारत ! कभी हताश न हो॥

मार्ग सूझता नहीं, न सूझे,
किन्तु अटल तुम अड़े रहो,
आगे बढ़ना कठिन हुआ तो
हटो न पीछे, खड़े रहो।
विविध बन्धनों में जकड़े हो,
रहो, किन्तु तुम कड़े रहो,
जी छोटा मत करो, बड़ों के
वंशज हो तुम बड़े रहो।

बात क्या कि फिर यहाँ तुम्हारा
पावन पूर्व-प्रकाश न हो।
भाषा का सन्देश सुनो, हे
भारत ! कभी हताश न हो॥

तुम में हो या न हो शेष कुछ
पर तुम तो हो आर्य अभी,
सूख गया तनु तक तो सूखे,
रक्त-मांस हो या कि न भी।
अरे, हड्डियाँ तो शरीर में
बनी हुई हैं वही अभी—
जिनसे विश्रुत वज्र बना था,
सिद्ध हुए सुर-कार्य सभी !

बात क्या कि फिर देश, तुम्हारे
पाप पतन का नाश न हो।
भाषा का सन्देश सुनो, हे
भारत ! कभी हताश न हो॥

नहीं रहे अधिकार तुम्हारे,
न रहें, पर वे मिटे नहीं,
जन्म-सिद्ध अधिकार किसीके
मिट सकते हैं भला कहीं?
भूमि वही है, जहाँ निरन्तर
सभी सिद्धियाँ सिद्ध रहीं,
जगत जानता है कि हुआ था
आत्मबोध उत्पन्न वहीं॥

बात क्या कि फिर छिन्न भिन्न यह
पराधीनता पाश न हो।
भाषा का सन्देश सुनो, हे
भारत! कभी हताश न हो॥

भारतवर्ष

मस्तक ऊँचा हुआ मही का,
धन्य हिमालय का उत्कर्ष।
हरि का क्रीड़ा-क्षेत्र हमारा,
भूमि-भाग्य-सा भारतवर्ष॥

हरा-भरा यह देश बना कर
विधि ने रवि का मुकुट दिया,
पाकर प्रथम प्रकाश जगत ने
इसका ही अनुसरण किया।

प्रभु ने स्वयं 'पुण्य भू' कह कर
यहाँ पूर्ण अवतार लिया,
देवों ने रज सिर पर रक्खी,
दैत्यों का हिल गया हिया!
लेखा श्रेष्ठ इसे शिष्टों ने,
दुष्टों ने देखा दुर्द्धर्ष!
हरि का क्रीड़ा-क्षेत्र हमारा
भूमि-भाग्य-सा भारतवर्ष॥

अंकित-सी आदर्श मूर्ति है
सरयू के तट में अब भी,
गूँज रही है मोहनमुरली
व्रज-वंशीवट में अब भी।
लिखा बुद्ध-निर्वाण-मन्त्र जय-
पाणि-केतुपट में अब भी,
महावीर की दया प्रकट है
माता के घट में अब भी।

मिली स्वर्ण-लङ्का मिट्टी में,
यदि हमको आगया अमर्ष।
हरि का क्रीड़ा-क्षेत्र हमारा
भूमि-भाग्य-सा भारतवर्ष॥

आर्य, अमृत सन्तान, सत्य का
रखते हैं हम पक्ष यहाँ,
दोनों लोक बनाने वाले
कहलाते हैं दक्ष यहाँ।
शांतिपूर्ण शुचि तपोवनों में
हुए तत्व प्रत्यक्ष यहाँ,
लक्ष बन्धनों में भी अपना
रहा मुक्ति ही लक्ष यहाँ।
जीवन और मरण का जग ने
देखा यहाँ सफल संघर्ष।
हरि का क्रीड़ा-क्षेत्र हमारा
भूमि-भाग्य-सा भारतवर्ष॥

मलय पवन सेवन करके हम
नन्दनवन बिसराते हैं,
हव्य भोग के लिए यहाँ पर
अमर लोग भी आते है!
मरते समय हमें गंगाजल
देना, याद दिलाते हैं,
वहाँ मिले न मिले फिर ऐसा
अमृत, जहाँ हम जाते हैं!
कर्म हेतु इस धर्म भूमि पर
लें फिर फिर हम जन्म सहर्ष।
हरि का क्रीड़ा-क्षेत्र हमारा
भूमि-भाग्य-सा भारतवर्ष॥

व्यास-स्तवन

शुभ-सौम्य - मूर्ति तेजोनिधान ,

हो अन्य भानु ज्यों भासमान ,

ध्यानस्थ, स्वस्थ, सद्धर्म्म-धाम ,

भगवान व्यास ! तुमको प्रणाम ॥

तव गुण अनन्त भू-कण समान ,

है कौन उन्हें सकता बखान ?

उपकार याद कर तव अपार ,

होते बुध विस्मित बार बार ॥

कर ज्ञान-भानु तुमने प्रकाश,
अज्ञान-निशा कर दी विनाश।
कर तव शिक्षामृत-पान शुद्ध,
संसार हुआ शिक्षित प्रबुद्ध॥

क्या राजनीति, सामान्य-नीति,
क्या धर्म-कर्म, क्या प्रीति-रीति।
क्या भक्ति-भाव, व्यवहार वेश,
उपदेश दिये तुमने अशेष॥

होता है जग में जो सदैव,
जो हुआ और होगा तथैव,
कथनानुसार तव सो समग्र,
होता है, होगा, हुआ अग्र॥

जो दिखलाया तुमने समक्ष,
हैं वही देख सकते सुदक्ष।
तुमने न किया हो जिसे व्यक्त,
सब उसे बताने में अशक्त॥

है विषय अहो ! ऐसा न एक,
जिसका न किया तुमने विवेक।
रचनाएँ कवियों की प्रशस्त,
उच्छिष्ट तुम्हारी हैं समस्त॥

कर वेदों का तुमने विभाग,
रक्षा की उनकी सानुराग।
वेदान्त-सूत्र रच कर अमोल,
हैं दिये हृदय के नेत्र खोल॥

सुन कर जिनका शुभ सदुपदेश,
रह जाता कुछ सुनना न शेष;
शुचि-शुद्ध, सनातन-धर्म्म-प्राण,
सो रचे तुम्हीं ने हैं पुराण॥

जिसको सब कवि-कोविद-समाज,
कहते हैं पञ्चम वेद आज।
वह गीत तुम्हारा ही प्रणीत,
इतिहास महाभारत पुनीत॥

हो जाता धर्म सहाय-हीन,
सब पूर्व-कीर्ति होती विलीन।
स्वच्छन्द विचरते पाप-ताप,
लेते न जन्म यदि ईश! आप॥

करता शुभ कर्म्म प्रचार कौन?
सिखलाता वेदाचार कौन?
हरता तुम बिन त्रयताप कौन?
दिखलाता पूर्व-प्रताप कौन?

करने को तव सन्मार्ग लुप्त,
हैं हुए यत्न बहु प्रकट-गुप्त।
वे हुए किन्तु निष्फल, निषिद्ध,
हो क्यों कर सत्य असत्य सिद्ध?

हिन्दुत्व हिन्दुओं का प्रधान,
है अब तक भी जो विद्यमान।
हे जगद्वन्द्य, करुणा-निधान!
हो तुम्हीं एक इसके निदान॥

जो आर्य्य-जाति का कीर्ति-गान,
पाता है जग में मुख्य मान,
है उसका जो गौरव महान,
सो किया आप ही ने प्रदान ॥

वर्णन करते भी बार बार,
रहते हैं तव गुण-गण अपार।
घन चाहे जितना भरें नीर
घटता न किन्तु सागर गभीर ॥

है हमें तुम्हारा अमित गर्व
है तव कृतज्ञ संसार सर्व।
है भारत धन्य अवश्यमेव
तुम हुए जहाँ अवतीर्ण देव ॥

१९६५ वि०

भीष्म-प्रतिज्ञा

विलोक शोभा विविध प्रकार,
जी में सुखी हो कर एक बार।
यशोधनी शान्तनु भूप प्यारे,
थे घूमते श्रीयमुना किनारे॥

वहाँ उन्होंने अति ही विचित्र,
आघ्राण की एक सुगन्ध मित्र!
थी चित्तहारी वह गन्ध ऐसी,
पाई गई पूर्व कभी न जैसी॥

भूपाल ऐसे उससे लुभाने,
शरीर की भी सुधि वे भुलाने।
चले प्रमोदार्णव में समाने,
पता-ठिकाना उसका लगाने॥

देखी उन्होंने तब एक बाला,
जो कान्तिसे थी करती उजाला।
मिलिन्द ने फुल्ल तथा विशाला,
मानों निहारी अरविन्द-माला॥

कैवर्त्त-कन्या वह सुन्दरी थी,
विम्बाधरी और कृशोदरी थी।
मनोभिरामा मृगलोचनी थी,
मनोज-रामा-मद-मोचनी थी॥

सुवर्ण-गात्रोद्भव गन्ध द्वारा,
प्रसार कोसों निजनाम प्यारा।
प्रत्यक्ष मानों वह थी दिखाती—
सुवर्ण में भी मृदु गन्ध आती॥

तत्काल जी को वह मोह लेती,
थी दर्शकों को अति मोद देती।
विलोक तद्रूप विचित्र कान्ति,
थी दूर होती सब शान्ति दान्ति॥

यों देख शोभा उसकी गभीर,
तत्काल भूपाल हुए अधीर।
क्या देख पूर्णेन्दु नितान्त कान्त,
कभी रहा है सलिलेश शान्त?

पुनः उन्होंने उससे सकाम,
हो मुग्ध पूछा जब नाम-धाम।
बोली अहा! सो प्रमदा प्रवीणा,
मानों बजी मञ्जुल मिष्ट वीणा॥

"हो आपका मङ्गल सर्व काल,
जानों मुझे सत्यवती नृपाल!
नौका चलाती सुकृतार्थ-काज,
पिता महात्मा मम दासराज॥"

थी मिष्ट वाणी उसकी विशेष ,
हुए अतः और सुखी नरेश ।
रसाल-शाखा पिक-गान-सङ्ग
देती नहीं क्या दुगनी उमङ्ग ?

पुनः उन्होंने उसके पिता से
माँगा उसे जाकर नम्रता से ।
किन्तु प्रतिज्ञा अति स्वार्थ-सानी
यों पूर्व चाही उसने करानी ॥

"सन्तान जो सत्यवती जनेगी
राज्याधिकारी वह ही बनेगी ।"
कामार्त थे यद्यपि वे, तथापि ,
न की प्रतिज्ञा नृप ने कदापि ॥

लौटे अतः सत्यवती बिना ही ,
पाया उन्होंने दुख चित्त-दाही ।
पावें व्यथा क्यों न सदा अनन्त ,
अकार्य्य तो भी करते न सन्त ॥

"मन्दस्मिता, योजन-गन्ध-दात्री,
कैवर्त्त-पुत्री वह प्रेम-पात्री।
कैसे मुझे हा! अब प्राप्त होगी?
क्या हो सकूँगा उसका वियोगी?

प्राणान्तकारी उसका वियोग
हुआ मुझे निश्चय काल-रोग।
अवश्य ही मैं उससे मरूँगा
न किन्तु वैसा प्रण मैं करूँगा॥

वैसी प्रतिज्ञा कर दुःख खोना,
पुत्रघ्न मानों जग बीच होना।
क्या तात देवव्रत का रहा मैं
जो मान लूँ धीवर का कहा मैं?

चाहे मरूँ मैं दुख से भले ही,
चाहे बनूँ भस्म विना जले ही।
स्वीकार है मृत्यु मुझे घनिष्ट,
न किन्तु देवव्रत का अनिष्ट॥

है पुत्र देवव्रत वीर मेरा,

गुणी, प्रतापी, रणधीर मेरा।

वही अकेला मम वंश-वृक्ष,

न पुत्र लाखों उसके समक्ष।

सारे गुणों में वह अद्वितीय,

आज्ञानुकारी सुत है मदीय।

गाऊँ कहाँ लों उसकी कथा मैं

होने न दूँगा उसको व्यथा मैं।

असह्य ज्यों सत्यवती-वियोग,

त्यों इष्ट देवव्रत-राज्य-भोग।

न किन्तु दोनों सुख ये मिलेंगे,

न प्राण मेरे मुरझे खिलेंगे।

कैवर्त्त से सत्यवती सही मैं

लूँ छीन, चाहूँ यदि आज ही।

परन्तु ऐसा करना अनीति,

अन्याय दुष्कर्म्म अधर्म्म-रीति।

हो क्यों न मज्जीवन आज नष्ट,
दूँगा प्रजा को न परन्तु कष्ट।
सदा प्रजा-पालन राज-धर्म्म,
कैसे तजूँ मैं यह मुख्य कर्म्म?

हे पञ्चबाण स्मर, काम, मार,
तू बाण चाहे जितने प्रहार।
अन्याय मैं किन्तु नहीं करूँगा,
न स्वत्त्व देवव्रत का हरूँगा॥"

यों नित्य चिन्ता करके नरेश,
न चित्त में पाकर शान्ति-लेश।
ग्रीष्मार्त-पद्माकर के समान,
होने लगे क्षीण, दुखी महान॥

भूपाल की व्याकुलता विलोक,
कुमार गांगेय हुए सशोक।
अतः उन्होंने नृप-मन्त्रि द्वारा
जाना पिता का दुख-हेतु सारा॥

"स्वयं दुखी तात हुए मदर्थ,
वात्सल्य ऐसा उनका समर्थ।
मैं किन्तु ऐसा अति हूँ निकृष्ट,
जो देखता हूँ उनका अरिष्ट!"

यों सोच देवव्रत स्वार्थ त्याग,
प्यारे पिता के हित सानुराग।
तुरन्त मन्त्री-वर के समेत
गये स्वयं धीवर के निकेत॥

आया उन्हें धीवर गेह देख,
अभ्यर्थना की उनकी विशेष।
सवंश पूजा करके तुरन्त,
सौभाग्य माना अपना अनन्त॥

सप्रेम बोला तब राज-मन्त्री—
माँगी सुता शान्तनु-शोक-हन्त्री।
परन्तु हा! धीवर ने न मानी,
चाही प्रतिज्ञा वह ही करानी॥

अमात्य ने खूब उसे मनाया,
अन्यान्य अर्थार्थ तथा लुभाया।
न किन्तु माना जब दास एक,
जी में हुआ रोष उसे कुछेक॥

परन्तु सो कोप अयोग्य जान,
गांगेय ने शान्त किया प्रधान।
पुनः स्वयं वे निज वंश-केतु,
बोले पिता के दुख-नाश हेतु॥

"प्यारे पिता के हित दासराज!
दीजे स्वकन्या तज सोच आज।
हैं कामनायें जितनी तुम्हारी,
हैं वे मुझे स्वीकृत मान्य सारी॥"

पुनः उन्होंने कर को उठाके,
औदार्य निःस्वार्थ-भरा दिखाके,
प्यारे पिता के हित मोद पाके,
की यों प्रतिज्ञा सबको सुना के॥

"है नाम देवव्रत सत्य मेरा,
है सत्य का ही व्रत नित्य मेरा।
अतः पिता के दुख नाशनार्थ,
मैं हूँ प्रतिज्ञा करता यथार्थ॥

मैं राज्य की चाह नहीं करूँगा,
है जो तुम्हें इष्ट वही करूँगा।
सन्तान जो सत्यवती जनेगी,
राज्याधिकारी वह ही बनेगी॥

विवाह भी मैं न कभी करूँगा,
आजन्म आद्याश्रम* में रहूँगा।
निश्चिन्त यों सत्यवती सुखी हो,
सन्तान से भी न कभी दुखी हो॥

जो चाहते थे तुम दासराज,
मैंने किये सो प्रण सर्व आज।
जो जो कहो और वही करूँ मैं,
व्यथा पिता की जड़ से हरूँ मैं॥"

*[illegible]

ऐसी प्रतिज्ञा सुन के कठोर,
कहा सुरों ने तक भीष्म—घोर।
हुए तभी से वह भीष्म नामी,
अपुत्र भी इच्छित लोक गामी ॥

१९६५ वि०

द्रौपदी-दुकूल

राजसूय के समय देखकर
विभव पाण्डवों का भारी,
ईर्ष्या - वश मन में दुर्योधन
जलने लगा दुराचारी !
तिस पर मय कृत सभा-भवन में,
जो उसका अपमान हुआ,
कुरुक्षेत्र के भीषण रण का
मानों वही विधान हुआ ॥

धर्म्मराज का सभा-भवन वह
हृदय सभीका हरता था,
उन्नत नभस्थली का विधु-मुख
मानों चुम्बन करता था।
चित्र विचित्र रुचिर रत्नों से
मण्डित यों छवि पाता था—
इन्द्र - धनुष - भूषित मेघों को
नीचा - सा दिखलाता था॥

वह अद्भुत छवि से "अवनी का
इन्द्र - भवन" कहलाता था;
अपने कर्त्ता के कौशल को
भली भाँति दरसाता था।
जल में थल, थल में जल का वह
भ्रम मन में उपजाता था;
इसीलिए वह भ्रान्त जनों की
बहुधा हँसी कराता था॥

इसी भ्रान्ति से जल विचार कर
वहाँ सुयोधन ने थल को,
ऊँचा किया वसन-वर अपना
करके चपल दृगञ्चल को।
तथा अचल निर्मल नीलम सम
था ललाम जल भरा जहाँ;
गमन शील हो थल के भ्रम से
वह उसमें गिर पड़ा वहाँ॥

उसकी ऐसी दशा देख कर
हँस कर बोले भीम वहीं—
"अन्धे के अन्धा होता है,
इसमें कुछ सन्देह नहीं!"
इस घटना से ऐसा दुस्सह
मर्म्मान्तक दुख हुआ उसे;
जब तक जीवित रहा जगत में
फिर न कभी सुख हुआ उसे॥

वीर पाण्डवों से तब उसने
बदला लेने की ठानी ;
किन्तु प्रकट विग्रह करने में,
कुशल नहीं अपनी जानी।
तब उनका सर्वस्व जुए में
हरना उसने ठीक किया—
कार्य्याकार्य्य विचार न करता
स्वार्थी जन का मलिन हिया ॥

भीष्मपितामह और विदुर ने
उसको बहु विध समझाया ;
किन्तु एक उपदेश न उनका
उस दुर्मति के मन भाया।
उनका कहना वन-रोदन-सा
उसके आगे हुआ सभी—
मन के दृढ़ निश्चय को विधि भी
पलटा सकता नहीं कभी ॥

"जुआ खेलना महा पाप है"—
करके भी यह बात विचार,
दुर्योधन के आमन्त्रण को
किया युधिष्ठर ने स्वीकार।
हो कुछ भी परिणाम अन्त में
धर्म्मशील वर-वीर तथापि,
निज प्रतिपक्षी की प्रचारणा
सह सकते हैं नहीं कदापि॥

छल से तब शकुनी ने उनका
राजपाट सब जीत लिया;
भ्राताओं के सहित स्व-वश कर
सब विध विधि-विपरीत किया।
फिर कृष्णा का पण करने को
प्रेरित किये गये वे जब;
हार पूर्ववत् गये उसे भी
रख कर द्यूत-दाँव पर तब॥

इस घटना से दुर्योधन ने
मानों इन्द्रासन पाया ;
भरी सभा में उस पापी ने
पाञ्चाली को बुलवाया ।
होने से ऋतुमती किन्तु वह
आ न सकी उस समय वहाँ ,
भेजा इस पर दुःशासन को
होकर उसने कुपित महा ॥

राजसूय के समय गये थे
जो मन्त्रित जल से सींचे ;
जाकर वही याज्ञसेनी के
कच दुःशासन ने खींचे !
बलपूर्वक वह उस अबला को
वहाँ पकड़ कर ले आया ;
करने में अन्याय हाय ! यों
नहीं तनिक भी सकुचाया ॥

प्रबल-जाल में फँसी हुई ज्यों
दीन मीन व्याकुल होती,
विवश विकल द्रौपदी सभा में
आई त्यों रोती रोती।
अपनी यह दुर्दशा देखकर
उसको ऐसा कष्ट हुआ;
जिसके कारण ही पीछे से
सारा कुरुकुल नष्ट हुआ॥

दुर्योधन - दुःशासन ने यह
समझी निज सुख की क्रीड़ा,
किन्तु पाण्डवों ने इस दुख से
पाई मर्मान्तक पीड़ा।
तो भी वचन - बद्ध होने से
ये सब पापाचार सहे;
मन्त्रों से कीलित भुजङ्ग सम
जलते ही वे वीर रहे॥

"मुझे एक वस्त्रावस्था में
केश खींच लाया जो हाय !
दुष्ट - बुद्धि दुःशासन का वह
प्रकट देख कर भी अन्याय।
सभ्य, ख्यातनामा ये सारे
सभा मध्य बैठे चुपचाप !
तो क्या पुण्य-हीन पृथिवी में
शेष रहा अब केवल पाप ?"

सुनकर रुदन द्रौपदी का यों
कहा कर्ण ने तब तत्काल—
"निश्चय सभी स्वल्प है जो कुछ
हो ऐसी असती का हाल।
अच्छा, दुःशासन ! यह जिसका
बार बार लेती है नाम,
लो उतार इसके शरीर से
वह भी एक वस्त्र बेकाम ॥"

कर्ण - कथन सुन दुःशासन ने
पकड़ लिया द्रौपदी-दुकूल,
किया क्रोध से भीमसेन ने
प्रण तब यों अपने को भूल—
"दुःशासन का उर विदीर्ण कर
शोणित जो मैं करूँ न पान,
तो अपने पूर्वज लोगों की
पा न सकूँ मैं गतिप्रधान ॥'

ग्रसी राहु से चन्द्रकला - सी
कृष्णा तब अति अकुलानी,
एक निमेष मात्र में उसने
निज लज्जा जाती जानी।
ऐसे समय एक हरि को ही
अपना रक्षक जान वहाँ;
लगी उन्हींको वह पुकारने
धर के उनका ध्यान वहाँ॥

"हे अन्तर्यामी मधुसूदन !
कृष्णचन्द्र ! करुणासिन्धो !
रमा-रमण, भय-हरण, दयामय ,
अशरणशरण, दीनबन्धो !
मुझ अनाथिनी की अब तक तुम
भूल रहे हो सुधि कैसे ?
नहीं जानते हो क्या केशव !
कष्ट पा रही हूँ जैसे ॥

तनिक देर में ही अब मेरी
लुटी लाज सब जाती है ,
क्षण क्षण में आपत्ति भयङ्कर
अधिक अधिक अधिकाती है।
करती हुई विकट ताण्डव-सी
निकट मृत्यु यह आती है ,
केवल एक तुम्हारी आशा
प्राणों को अटकाती है ॥

दुःशासन - दावानल - द्वारा
मेरा हृदय जला जाता,
विना तुम्हारे यहाँ न कोई
रक्षक मुझे दृष्टि आता।
ऐसे समय तुम्हें भी मेरा
ध्यान नहीं जो आवेगा,
तो हा! हा! फिर अहो दयामय!
मुझको कौन बचावेगा?

क्रिया-हीन ये चित्र लिखे-से
बैठे यहाँ मौन धारे;
मेरी यह दुर्दशा सभा में
देख रहे गुरुजन सारे!
तुम भी इसी भाँति सह लोगे
जो ये अत्याचार हरे!
निस्संशय तो हम अनाथ जन
विना दोष ही हाय! मरे॥

किसी समय भ्रम-वश जो कोई
मुझ से गुरुतर दोष हुआ,
हो जिससे मेरे ऊपर यह
ऐसा भारी रोष हुआ।
तो सदैव के लिए भले ही
मुझको नरक-दण्ड दीजे;
किन्तु आज इस पाप-सभा में
लज्जा मेरी रख लीजे॥

सदा धर्म्म-संरक्षण करने
हरने को सब पापाचार,
हे जगदीश्वर! तुम धरणी पर
धारण करते हो अवतार।
फिर अधर्म्म-मय अनाचार यह
किस प्रकार तुम रहे निहार,
क्या वह कोमल हृदय तुम्हारा
हुआ वज्र मेरी ही वार?

शरणागत की रक्षा करना
सहज स्वभाव तुम्हारा है ;
वेद-पुराणों में अति अद्भुत
विदित प्रभाव तुम्हारा है।
सो यदि ऐसे समय न मुझपर
दया - दृष्टि दिखलाओगे,
विरुद - भ्रष्ट होने से निश्चय
प्रभु ! पीछे पछताओगे ॥

जब जिस पर जो पड़ी आपदा
तुमने उसे बचाया है,
तो फिर क्यों इस भाँति दयामय !
तुमने मुझे भुलाया है ?
इस मरणाधिक दुख से जो मैं
मुक्ति आज पा जाऊँगी,
गणिका, गज, गृध्रादिक से मैं
कम न कीर्ति फैलाऊँगी ॥

जो अनिष्ट मन से भी मैंने
नहीं किसीका चाहा है;
जो कर्त्तव्य धर्म्मयुत अपना
मैंने सदा निवाहा है।
तो अवश्य इस विपत्-सिन्धु से
तुम मुझको उद्धारोगे;
निश्चय दया-दृष्टि से माधव!
मेरी ओर निहारोगे॥"

करती हुई विनय यों प्रभु से
कृष्णा ने दृग मूँद लिए;
क्षण भर देह-दशा को भूले
खड़ी रही वह ध्यान किये।
तब करुणामय कृष्णचन्द्र ने
दूर किया उसका दुख घोर;
खींच खींच पट हार गया पर
पा न सका दुःशासन छोर!

वरदान

खींचा खल दुःशासन से जब
अन्तरहित द्रौपदी - दुकूल,
डाली विदुरादिक ने उस पर
सभा-मध्य धिक्रूपी धूल।
तब राजा धृतराष्ट्र शोक से
मन में बहुत अधीर हुए,
वह दुर्दृश्य विना देखे भी
उनके नेत्र सनीर हुए॥

पुत्र-विवश होने पर भी वे
इस अनीति को सह न सके,
उन नीचात्माओं की निन्दा
किये विना वे रह न सके।
दुर्बल जन यद्यपि न चित्त में
ध्यान धर्म्म का धरते हैं;
किन्तु लोक-निन्दा से वे भी
एक वार तो डरते हैं॥

कहती हुई दीन वाणी त्यों
सहती हुई व्यथा भारी,
बहती हुई शोक-सरिता में
प्रिया पाण्डवों की प्यारी।
पाञ्चाली को निकट बुला कर
उसे उन्होंने धैर्य्य दिया,
और बहुत आश्वासन देकर
किसी भाँति कुछ शान्त किया॥

"मेरी सब बहुओं में कृष्णे !
तू सर्वोपरि प्यारी है,
रूप शील गुण गुरुतादिक में
तू सबसे ही न्यारी है।
सुनने पड़े मुझे सम्मुख ही
कातर वचन हाय ! तेरे,
क्यों न दृष्टि के साथ श्रवण भी
नष्ट किये विधि ने मेरे !

दुर्योधन - दुःशासनादि का
महा अभागी पापी तात,
लज्जित होता हूँ मैं तुझ से
कहते हुए आज कुछ बात।
किन्तु दया कर हे कल्याणी,
निज आदर्श शील को सोच,
मुझे शान्ति देने को कुछ भी
माँग बहू ! तू निःसङ्कोच ॥"

सुनकर उनके वचन द्रौपदी
गद्गद हुई, न बोल सकी,
कहने की इच्छा रहते भी
विवश न वह मुँह खोल सकी।
द्रवित हुए कुरुनाथ जानकर
और अधिक उसको रोता,
हा ! जो हुआ न होता यदि वह
तो यह क्या अच्छा होता !

खड़ी हुई लज्जित सिमटी-सी
निश्चल नीचा वदन किये,
बड़े, बड़े, आँसू टपकाती
दीनों का-सा भाव लिये।
हाथ जोड़कर बोली कृष्णा
जब करुणा कुछ शान्त हुई,
उस कल्याणी की वह वाणी
सविनय सरल नितान्त हुई ॥

"तात ! तुम्हारी अनुकम्पा हो
बहुत मानती हूँ मन में,
होऊँगी मैं तुष्ट तुम्हारी
आज्ञा ही के पालन में।
फिर भी जो वर ही देना है
तो बस मुझे यही दीजे—
पराधीनता के बन्धन से
मुक्त पाण्डवों को कीजे?"

"एवमस्तु" कह कर तब नृप ने
फिर उससे इस भाँति कहा,
"माँग और भी जो जी चाहे
धीरज धर आँसू न बहा।
दासी-दास राज्य रत्नादिक
सब कुछ लौटा दूँगा मैं,
जीती हुई शकुनि के द्वारा
वस्तु न कोई लूँगा मैं॥"

तब राज्यादिक को न माँगकर
बोली यों उनसे कृष्णा—
"मुझे और कुछ नहीं माँगना,
अच्छी नहीं अधिक तृष्णा।
जो पुरुषों में पौरुष होगा
तो सब कुछ हो जावेगा,
तात! अन्यथा यह भिक्षा का
वैभव फिर खो जावेगा॥"

१९६७ वि०

उत्तर और बृहन्नला

अति असह्य अज्ञात वास जब
पूरा होने पर आया,
वीर पाण्डवों ने तब मन में
एक अलौकिक सुख पाया।
उन्हीं दिनों पाकर सहायता
कुरुपति, द्रोण, कर्ण, कृप की,
हरी सुशर्म्मा ने बहु गायें
चिर वैरी विराट नृप की॥

मत्स्यराज पर विपद देख कर
निज कर्त्तव्य सोच मन में,
करने को सहायता उनकी
गये युधिष्ठिर भी रण में।
सज्जन निज उपकारों का ज्यों
बदला कभी न लेते हैं,
प्रत्युपकार रूप ऋण त्यों ही
प्राणों से भी देते हैं॥

गये भीम, सहदेव, नकुल भी
करके अस्त्र-शस्त्र धारण,
पर अर्जुन से कहा न नृप ने।
नर्तक होने के कारण।
इससे उनको हुई विकलता
हुआ हृदय में दुःख अपार,
प्रायः वेश देख कर ही सब
करते हैं योग्यता-विचार॥

उत्तर कुरु के जिस विजयी को
सब जगदेक वीर कहते,
अबला बना हुआ बैठा है
वही आज बल के रहते!
हाय! प्रकट होने पर हमको
लोक कौन पदवी देगा?
वह भीषण अपयश निश्चय ही
प्राण हमारे हर लेगा॥

हाय! हाय! धिक्कार हमें है
छिपे हुए बैठे हैं हम,
आश्रय-दाता नृप विराट पर
विपद पड़ी है दारुणतम।
इच्छा और शक्ति रहते भी
हम कर्तव्य न कर सकते,
हाय न तो जी ही सकते हैं
न हम आज हैं मर सकते॥

कृष्णा का अपमान सभा में
और विपिन की बाधा घोर,
रहे झेलते किसी भाँति हम
करके अपना हृदय कठोर।
अहो! दैव क्या इतने पर भी
तुझको दया नहीं आई?
नरक रूप अज्ञात वास में
महा असुविधा प्रकटाई!

आर्य्य भीम, सहदेव नकुल युत
धर्म्मराज को लेकर संग,
मत्स्यराज सानन्द गये हैं
करने को रिपु से रण-रंग।
होने से विपरीत वेश हा!
हुआ हमारा ही न प्रबन्ध,
भला वीरता के कामों से
नाट्यकला का क्या सम्बन्ध?

अच्छा, क्यों न आप ही अब हम
चले जायँ युद्धस्थल में,
किन्तु देखकर वैरी हमको
जान न लेंगे क्या पल में ?
पूर्ण हुआ अज्ञात वास जब
फिर डर ही क्या है इसका ?
चाहे जो हो किन्तु जगत में
अर्जुन को डर है किसका ?

समय कहाँ पावेंगे फिर हम
प्रकटित होने का ऐसा ?
मिलता नहीं सुयोग सर्वदा
जग में जैसे को तैसा।
अब तो नहीं रहा जाता है
फिर क्यों यह अवसर खोवें ?
कुछ भी हो, अर्जुन के वैरी
अब चिर निद्रा में सोवें ॥

निश्चय करते हुए इसी विध
जाने को सत्वर रण में,
अस्थिर अर्जुन घूम रहे थे
नाट्य-भवन के प्राङ्गण में।
उसी समय पुत्री विराट की
थी जिसकी सूरत भोली,
आकर उनके निकट उत्तरा
उनसे इस प्रकार बोली—

"बृहन्नले! इस समय राज्य पर
कठिन समय जो आया है,
नीच त्रिगर्तराज ने आकर
जो उत्पात मचाया है।
उसके साथ युद्ध करने को
जिस प्रकार हैं पिता गये,
अब उससे भी अधिक
उपद्रव सुने गये हैं नये नये!

अधम शिरोमणि दुर्योधन ने
इसी समय में पहुँच यहाँ,
करके हरण बहुत-सी गायें
घेरी नगरी जहाँ तहाँ!
भैया उत्तर ही घर पर हैं
गये युद्ध में वीर सभी,
फिर भी, बालक होकर भी, वे
प्रस्तुत हैं युद्धार्थ अभी॥

कुछ दिन हुए अचानक उनका
मारा गया सारथी विज्ञ,
सैरन्ध्री कहती है तू भी
है इस गुण में पूर्ण अभिज्ञ।
कई बार अर्जुन का तूने
है समुचित सारथ्य किया,
देकर निज कौशल का परिचय
उनको अत्यानन्द दिया॥

क्या भैया की भी सहायता
कर सकता है तू इस काल ?
आशा है, यह बात मानकर
कर देगा तू मुझे निहाल।
तुझको अपना ही विचारकर
इस प्रकार कहती हूँ मैं,
तुझे ज्ञात है तुझसे जैसी
तुष्ट सदा रहती हूँ मैं॥"

सुनकर वचन उत्तरा के यों
सुखी हुए मन में अति पार्थ,
फिर क्या कहना अनायास ही
जो मनमाना मिले पदार्थ।
किन्तु हर्ष को प्रकट न करके
बोले वे कुछ सकुचाते,
धीरों के गम्भीर हृदय के
भाव नहीं ऊपर आते॥

"भला नाचने-गाने वाले
क्या जानें ऐसी बातें ?
करनी पड़ती हैं कितनी ही
ऐसे समय नई घातें।
पर जब और उपाय नहीं है
यह आज्ञा पालेंगे हम,
प्रेम-भरा अनुरोध तुम्हारा
किस प्रकार टालेंगे हम ?"

नववल्ली - सी खिली उत्तरा
फैली मुख पर छटा नई,
प्रकृत मन्द गति को तज कर वह
झट उत्तर के निकट गई।
आखिरकार युद्ध करने को
राजकुमार हुआ तैयार,
मानों मन्मथ ने धरणी पर
धारण किया नया अवतार ॥

तब कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से
सैरन्ध्री की ओर निहार,
वृहन्नला भी प्रस्तुत होकर
पाने लगा प्रमोद अपार।
देख उसे विपरीत ढङ्ग से
कवच पहनते हुए विशाल,
हँसती हुई उत्तरा उससे
बोली ऐसे वचन रसाल—

"वृहन्नले ! रण में जाकर तू
मुझको नहीं भूल जाना,
कुटिल कौरवों को परास्त कर
उनके वस्त्र छीन लाना।
उनसे रङ्ग-विरङ्गी गुड़ियाँ
मैं सानन्द बनाऊँगी,
और खेलती हुई उन्हींसे
मैं तेरा गुण गाऊँगी॥"

सुन कर उसके वचन पार्थ यों
उसे देख कुछ मुसकाये,
उत्तर दिये विना ही फिर वे
स्यन्दन शीघ्र सजा लाये।
कहते नहीं श्रेष्ठ जन पहले
करके ही दिखलाते हैं,
कार्य्य सिद्ध करने से पहले
बातें नहीं बनाते हैं॥

रथारूढ़ होकर फिर दोनों
समर भूमि को चले सहर्ष,
चकित हुआ मन में तब उत्तर
देख पार्थ-पाटव-उत्कर्ष।
पुर से निकल शीघ्र पहुँचे वे
उसी शमी पादप के पास,
शस्त्र छिपा रक्खे थे जिस पर
पाण्डु-सुतों ने विना प्रयास॥

इन्द्रधनुष-सम विविध वर्णमय
वीरों के वस्त्रों वाली,
चपल चञ्चला के प्रकाश-सम
चमकीले शस्त्रों वाली।
पवन - वेग मय वाहनवाली
गर्जन करती हुई, बड़ी,
उसी जगह से घनमाला - सी
कौरव सेना दीख पड़ी॥

सूर्य्योदय होने पर दीपक
हो जाता निष्प्रभ जैसे,
उसे देखकर उत्तर का मुख
शोभा - हीन हुआ तैसे।
क्षण भर में ही उसका पहला
साहस सारा लुप्त हुआ,
जगा हुआ उत्साह भीति को
जागृत करके सुप्त हुआ॥

बोला तब भय से कातर वह
शक्ति भूल अपनी सारी—
"देखो, देखो, वृहन्नले ! यह
सेना है कैसी भारी !
इसे देखकर धैर्य छूटता
अङ्ग आप ही हैं थकते,
मैं क्या, इसे स्वयं सुर-गण भी
रण में नहीं हरा सकते ॥

मैं किस भाँति लड़ूँगा इससे,
लौटाओ रथ - अश्व अभी,
सैन्य - सहित जब पिता आयँगे
होगा बस अब युद्ध तभी।
बिन्दु और सागर की समता
हो सकती है भला कहीं !
गुरुतम गिरि से गज-शावक को
टक्कर लेना योग्य नहीं ॥"

देख उसे भयभीत धनञ्जय
बोले यों उससे स्वच्छन्द—
"यह क्या, राजकुमार! अभी से
पड़ते हो तुम कैसे मन्द?
वीर पिता के पुत्र अहो! तुम
इस प्रकार करते आक्रन्द,
सावधान! चञ्चल होकर यों
मत देना अरि को आनन्द॥

भला अभी तक शत्रु जनों ने
है ऐसा क्या कार्य किया—
जिसने तुमसे वीर पुत्र का
हृदय अचानक कँपा दिया?
किसी कार्य को देख प्रथम ही
शङ्कित होना ठीक नहीं,
यश विशेषता से ही मिलता
है यह बात अलीक नहीं॥

स्वार्थ-सिद्धि के लिए लोक में
दुराचार जो करते हैं,
दुराचार ही के कारण वे
दुर्बल होकर मरते हैं।
दुर्योधन - दुःशासनादि हैं
महा दुराचारी धिक्-पात्र,
आओ उनका वध करने में
बन जावें हम कारण-मात्र ॥

जैसा निश्चय कर आये हो
अब वैसा ही काम करो,
धैर्य धरो, मत डरो विघ्न से
आगे बढ़कर नाम करो।
जो कुछ गर्व जना आये हो
देखो, वह खो जाय नहीं,
करो भूल कर काम न ऐसा
सिर नीचा हो जाय कहीं ॥"

इस प्रकार अर्जुन ने बहु विध
दिया उसे उत्साह बड़ा,
पर भय के कारण उसका कुछ
उस पर नहीं प्रभाव पड़ा।
बोला वह—"चाहे जो हो पर
इनसे लड़ न सकूँगा मैं,
बृहन्नले! रथ को लौटा दे
तुझे बहुत धन दूँगा मैं॥"

अर्जुन को यों उत्तर दे कर
उत्तर रथ से उतर भगा!
तब वे उसे पकड़ने दौड़े
मन में कुछ कुछ क्रोध जगा।
तत्क्षण दुर्योधन के दल में
अट्टहास यों भास हुआ—
चञ्चल करता हुआ जलधि को
मानों इन्दु-विकास हुआ॥

"क्षत्रिय होकर रण से डरते
है तुमको धिक्कार अरे !"
यों कह धावित हुए पार्थ जब
उड़े केश - पट पवन भरे।
कच-कलाप जा पकड़ा उसका
स्वच्छ पाट का-सा लच्छा,
"ऐसे जीने के बदले तो
है मरजाना ही अच्छा ॥

अहो ! तुच्छ जीवन पर तुमको
है इतनी ममता मन में,
हँसते हँसते मर जाते हैं
धीर धर्म के साधन में।
क्षत्रिय होकर पीठ दिखाते
निश्चय ही यह है दुर्दैव,
क्या कर्तव्य-विमुख होकर भी
जी सकते हो, कहो, सदैव ?

ऐसा हाल अभी से है जब
तब आगे कैसा होगा ?
वृद्धकाल क्या कभी किसीका
युवाकाल जैसा होगा ?
कीर्तिमान जन मरा हुआ भी
अमर हुआ जग में जीता,
मरे हुए से भी जीते जी
है अपगीत गया बीता ॥

डरो नहीं तुम युद्ध न करना
सबसे स्वयं लड़ूँगा मैं,
बनो सारथी ही तुम मेरे
आँच न आने दूँगा मैं।
होता अहो ! सुभद्रानन्दन
यदि अभिमन्यु आज इस काल,
तो यह अभी जान लेते तुम—
कितना साहस रखते बाल ॥"

यों कह कर अर्जुन ने अपना
पूरा परिचय दिया उसे,
चकित, विनीत और फिर निर्भय
इस प्रकार से किया उसे।
उसी शमी पादप के नीचे
फिर वे उसको ले आये,
और दिखाकर अपने आयुध
उसके द्वारा उतराये॥

वेश बदलने लगे पार्थ तब
कौरव भ्रमित हुए भ्रम से,
धूलि-धूसरित रत्न शाण पर
लगा चमकने क्रम क्रम से!
दुर्योधन की सब आशाएँ
मिट्टी में मिल गईं वहीं,
होता है परिणाम कहीं भी
बुरे काम का भला नहीं॥

केशों की कथा

न और भस्म-विमुक्त भानु-कृशानु सम शोभित नये,
ज्ञात-वास समाप्त कर जब प्रकट पाण्डव हो गये।
ब कौरवों से शान्ति पूर्वक और समुचित रीति से,
ाँगा उन्होंने राज्य अपना प्राप्य था जो नीति से॥

ा किन्तु वश में कुमति के निज प्रबलता की भ्रान्ति से,
ना न चाहा रण-विना उसको उन्होंने शान्ति से।
व क्षमा-भूषण, नित्य निर्भय, धर्मराज महाबली,
हने लगे श्रीकृष्ण से इस भाँति वर-वचनावली—

"दुर्योधनादिक कौरवों ने जो किये व्यवहार
सो विदित उनके आपको सम्पूर्ण पापाचार
अब सन्धि के सम्बन्ध में उत्तर उन्होंने जो दि
हे कमललोचन ! आपने वह भी प्रकट सब सुन लि

कर्त्तव्य अब जो हो हमारा दीजिए सम्मति ह
रण के बिना कोई नहीं अब दीखती है गति ह
जब शान्ति करना चाहते वे लोग राज्य बिना ि
कैसे कहें फिर हम कि वे प्रस्तुत नहीं रण के ि

जिनके सहायक आप हैं, हम युद्ध से डरते न
क्षत्रिय समर में काल से भी भय कभी करते न
पर भरत - वंश - विनाश की चिन्ता हमें दुख दे र
बस बात बारम्बार मन में एक आती है र

हैं दुष्ट, पर कौरव हमारे बन्धु हैं, परिवार
अतएव दोषी भी क्षमा के पात्र वारंवार
यह सोच कर ही हम न उनका चाहते संहार
पर देखते हैं दैव को स्वीकार ये न विचार

जो ग्राम केवल पाँच ही देते हमें वे प्रेम से,
सन्तुष्ट थे हम, राज्य सारा भोगते वे क्षेम से।
ये हाथ उनके रक्त से रँगना न हमको इष्ट था।
सम्बन्ध हमसे और उनसे सब प्रकार घनिष्ट था॥"

सुनकर युधिष्ठिर के वचन भगवान यों कहने लगे—
मानों गरजते हुए नीरद भूमि में रहने लगे।
"है कौरवों के विषय में जो आपने निज मत कहा,
स्वाभाविकी वह आपकी है सरलता दिखला रहा॥

औदार्य-पूर्वक आप उनको चाहते करना क्षमा,
आसन्न-मृत्यु परन्तु उनमें वैर-भाव रहा समा।
अतएव उनसे सन्धि की आशा समझनी व्यर्थ है,
दुर्बुद्धियों को बोध देने में न दैव समर्थ है॥

उपदेश कोई यदपि उनके चित्त में न समायँगे,
तो भी उन्हें हम सन्धि करने के लिए समझायँगे।
होगा न उससे और कुछ तो बात क्या कम है यही,
निर्दोषता जो जान लेगी आपकी सारी मही॥"

यों कह युधिष्टिर से वचन इच्छा समझ उनकी हिये,
प्रस्तुत हुए हरि हस्तिनापुर गमन करने के लिये।
इस सन्धि के प्रस्ताव से भीमादि व्यग्र हुए महा,
पर धर्मराज - विरुद्ध धार्मिक वे न कुछ बोले वहाँ ॥

तब सहन करने से सदा मन की तथा तन की व्यथा,
जो क्षीण दीन निदाघ-निशि-सी हो रही थी सर्वथा।
वह याज्ञसेनी द्रौपदी अवलोक दृष्टि सतृष्ण से,
हिम-मलिन-विधु-सम वदन से बोली वचन श्रीकृष्ण से ॥

"हैं तत्त्वदर्शी जन जिन्हें सर्वज्ञ नित्य बखानते,
हे तात! यद्यपि तुम सभीके चित्त की हो जानते।
तो भी प्रकट कुछ कथन की जो धृष्टता मैं कर रही,
मुझ पर विशेष कृपा तुम्हारी, हेतु है इसका यही ॥

जिस हृदय की दुःखाग्नि से जलती हुई भी निज हिये,
जीवित किसी विध मैं रही शुभ समय की आशा किये।
हा! हन्त!! आज अजातरिपु ने दया रिपुओं पर दिखा,
कर दी ज्वलित घृत डाल के ज्यों और भी उसकी शिखा ॥

सुन कर न सुनने योग्य हा ! इस सन्धि के प्रस्ताव को ,
यह चित्त मेरा हो रहा है प्राप्त जैसे भाव को।
वर्णन न कर सकती उसे मैं वज्रहृदया परवशा ,
हरि तुम्हीं एक हताश जन की जान सकते हो दशा ॥

केवल दया ही शत्रुओं पर नहीं दिखलाई गई ,
हा ! आज भावी सृष्टि को दुर्नीति सिखलाई गई।
चलते बड़े जन आप हैं संसार में जिस रीति से ,
करते उन्हींका अनुकरण दृष्टान्त-युत सब प्रीति से ॥

जो शत्रु से भी अधिक बहुविध दुख हमें देते रहे ,
वे क्रूर कौरव हा ! हमीं से आज बन्धु गये कहे।
नीतिज्ञ गुरुओं ने भुला दी नीति यह कैसे सभी—
"अपना अहित जो चाहता हो वह नहीं अपना कभी॥"

जो ग्राम लेकर पाँच ही तुम सन्धि करने हो चले ,
औदार्य्य और दयालुता ही हेतु हों इसके भले।
पर "डर गये पाण्डव" सदा ही यह कहेंगे जो अहो !
निज हाथ लोगों के मुखों पर कौन रक्खेगा कहो ?

क्या कर सकेंगे सहन पाण्डव हाय ! इस अपमान को
क्या सुन सकेंगे प्रकट वे निज घोर अपयश गान को
होता सदा है सज्जनों को मान प्यारा प्राण से
है यशोधनियों को अयश लगता कठोर कृपाण से।

देवेन्द्र के भी विभव को सन्तत लजाते जो रहे
हा ! पाँच ग्रामों के वही हम आज भिक्षुक हो रहे
अब भी हमें जीवित कहे जो, सो अवश्य अजान है
हैं जानते यह तो सभी "दारिद्र्य मरण-समान है

अथवा कथन कुछ व्यर्थ अब जब क्षमा उनको दी गई
केवल क्षमा ही नहीं उनसे बन्धुता भी की गई
सो अब भले ही सन्धि अपने बन्धुओं से कीजिए
पर एक बार विचार फिर भी कृत्य उनके लीजिए

क्या क्या न जानें नीच निर्दय कौरवों ने है किया
था भोजनों में पाण्डवों को विष इन्होंने ही दिया
सो सन्धि करने के समय इस विषम विष की बात को
मुझ पर कृपा करके उचित है सोच लेना तात को

है विदित जिसकी लपट से सुरलोक सन्तापित हुआ,
होकर ज्वलित सहसा गगन का छोर था जिसने छुआ।
उस प्रबल जतुगृह के अनल की बात भी मन से कहीं,
हे तात! सन्धि विचार करते तुम भुला देना नहीं॥

मृग-चर्म धारे पाण्डवों को देख वन में डोलते,
तुमने कहे थे जो वचन पीयूष मानों घोलते।
जो क्रोध उस बेला तुम्हें था कौरवों के प्रति हुआ,
रखना स्मरण वह भी, तथा जो जल दृगों से था चुआ॥

था सब जिन्होंने हर लिया छल से जुवे के खेल में,
प्रस्तुत हुये किस भाँति पाण्डव कौरवों से मेल में?
उस दिवस जो घटना घटी थी भूल क्या वे हैं गये,
अथवा विचार विभिन्न उनके हो गये हैं अब नये?"

फिर दुष्ट दुःशासन हुआ था तुष्ट जिनको खींच के,
ले दाहिने कर में वही निज केश लोचन सींच के।
रख कर हृदय पर वाम कर शर-विद्ध-हरिणी-सी हुई,
बोली विकल तर द्रौपदी वाणी महा करुणामयी॥

"करुणा-सदन ! तुम कौरवों से सन्धि जब करने लगो
चिन्ता व्यथा सब पाण्डवों की शान्त कर हरने लगो
हे तात ! तब इन मलिन मेरे मुक्त केशों की कथा
है प्रार्थना, मत भूल जाना, याद रखना सर्वथा

कह कर वचन यह दुःख से तब द्रौपदी रोने लगी
नेत्राम्बुधारा-पात से कृश अङ्ग निज धोने लगी
हो द्रवित, करके श्रवण उसकी प्रार्थना करुणा-भरी
देने लगे निज कर उठा कर सान्त्वना उसको हरी

"भद्रे ! रुदन कर बन्द हा ! हा ! शोक को मन से हटा
यह देख तेरी दुख - घटा जाता हृदय मेरा फटा
विश्वास मेरे कथन का जो हो तुझे मन में कभी
सच जान तो दुख दूर होंगे शीघ्र ही तेरे सभी

जिस भाँति गद्गद कण्ठ से तू रो रही है हाल में
रोती फिरेंगी कौरवों की नारियाँ कुछ काल में
लक्ष्मी-सहित रिपु-रहित पाण्डव शीघ्र ही हो जायँगे
निज नीच कर्मों का उचित फल कुटिल कौरव पायँगे

कुन्ती और कर्ण

जब दुर्योधन किये बिना संग्राम सरासर,
देने लगा न भूमि सुई की नोक बराबर।
जब न एक भी बात सन्धि की उसने मानी,
तब विग्रह को विवश हुए पाण्डव विज्ञानी॥

सुन कर यह सब हाल युद्ध होना निश्चित कर,
कुन्ती कर्ण-समीप गई गङ्गा के तट पर।
था उसका उद्देश कर्ण को समझाने का,
तथा मना कर आत्म-पक्ष में कर लाने का॥

वहाँ कर्ण आकण्ठ - मग्न सुरसरी - नीर में,
कर युग ऊँचे किये लग्न था तप गभीर में
जप से हुआ निवृत्त न वह बल-गर्वित जौलों,
राह देखती रही खड़ी उसकी यह तौलों

किये चित्त एकाग्र सूर्य्य में दृष्टि लगाये,
अस्फुट स्वर से वेद-मन्त्र पढ़ता मन भाये
सलिल मग्न आकण्ठ सुहाता था वह ऐसे,
अलि-कुल-कलकल-कलित कमल फूला हो जैसे

गङ्गा - गर्भ - प्रविष्ट सूर्य्य - सुत शोभाशाली,
दिखलाता था छटा एक वह नई निराली
सूर्योन्मुख था दृश्य अचल यों मुख-मण्डल का—
जल में ज्यों प्रतिबिम्ब सूर्य्य का ही हो झलका

करके पूरा ध्यान देख कुन्ती को आगे,
बोला वह यों वचन विनय पूर्वक अनुरागे
अधिरथ-सुत यह कर्ण तुम्हें करता प्रणाम है;
हो आर्यें! आदेश, कौन मम योग्य काम है

देकर तब आशीष उसे समुचित हितकारी,
बोली कुन्ती गिरा प्रकट उससे यों प्यारी।
"बढ़े तुम्हारी कीर्ति वत्स ! नित भूमण्डल में ;
आखण्डल* सम कहें सकल जन तुम को बल में ॥

अधिरथ-सुत की बात वदन से तुम न बखानो,
शुद्ध सूर्य्य-सुत श्रेष्ठ सदा अपने को जानो।
राधा-सुत तुम नहीं, पुत्र मेरे हो प्यारे ;
मानों मेरे वचन सत्य ये निश्चय सारे ॥

आमन्त्रित कर सूर्य्य देव को मैंने मन में,
मन्त्र शक्ति से तुम्हें जना था पिता-भवन में।
आत्म-विषय में विज्ञ न होने से तुम सम्प्रति,
रखते हो रिपु-रूप कौरवों में अनुचित रति ॥

अहो दैव ! उत्पन्न किया था जिसको मैंने,
सुर-सम्भव नर-जन्म दिया था जिसको मैंने।
वही आज तुम वैर पाण्डवों से रखते हो,
कर्त्तव्याकर्त्तव्य नहीं कुछ भी लखते हो।

*इन्द्र

होता तुम से सदा पाण्डवों का अनहित है,
सोचो तो हे वत्स ! तुम्हें क्या यही उचित है
सुत-सेवा-उपहार दिया जाता क्या यों ही ?
माता-ऋण-प्रतिकार किया जाता क्या यों ही

जननी का सन्तोष पूर्ण करना मनमाना,
धर्म्मज्ञों ने यही धर्म्म का मर्म्म बखाना
सो हे धार्म्मिक-धीर ! तुम्हारा है सब जाना,
फिर क्या समुचित नहीं पाण्डवों को अपनाना

सदाचरण-रत सदा युधिष्ठिर अनुज तुम्हारे,
भीम, नकुल, सहदेव, पार्थ अनुगामी सारे
हो तुम मम सुत प्रथम पाण्डवों के प्रिय भ्राता,
सो सब सोच विचार बनो अब उनके त्राता

पार्थ-भुजों से हुई उपार्जित सब सुखकारी,
दुर्योधन से हरी गई जो छल से सारी
धर्म्मराज की वही राजलक्ष्मी अति प्यारी,
भोगो अरि संहार स्वयं तुम हे बलधारी

तुम लोगों को देख भेंटते बन्धु-भाव से,
प्रेम और आनन्द सहित अत्यन्त चाव से।
पामर कौरव जलें, स्वजन सारे सुख पावें,
मन चीते सब काम तभी मेरे हो जावें॥

राम-कृष्ण का नाम लिया जाता है जैसे,
सूर्य्य-चन्द्र को याद किया जाता है जैसे।
वैसे ही सब लोग कहें कर्णार्जुन सुख से,
करो वीर तुम वही छुड़ा कर मुझको दुख से॥

कर्णार्जुन-सम्मिलन जगत को आज बता दो,
बन्धु-बन्धु-सम्बन्ध सभीको प्रकट जता दो।
प्रेम-सिन्धु में स्वजन-वर्ग को शीघ्र नहा दो,
शत्रु-जनों का गर्व खर्व कर सर्व बहा दो॥

राम-भरत की भेट हुई थी पहले जैसे,
कर्ण-युधिष्ठिर-मिलन आज देखें सब तैसे।
आई हूँ मैं इसीलिए इस समय यहाँ पर,
करो पुत्र स्वीकार वचन मेरे ये हितकर॥"

मर्म - स्पर्शी वचन श्रवण कर भी कुन्ती के,
बदले नहीं विचार कर्ण के निश्चल जी के
प्रत्युत्तर फिर लगा उसे देने वह ऐसे—
मुरज मधुर गम्भीर घोष करता है जैसे।

"हे नर-वीरप्रसू! वचन ये सत्य तुम्हारे,
जन्म-कथा निज जान अङ्ग पुलकित मम सारे
सूत वंश में हुए किन्तु संस्कार हमारे,
अधिरथ - राधा विदित हमारे पालक प्यारे

दुर्योधन ने सदा हमारा मान किया है,
प्रेमसहित धन-धान्य पूर्ण बहु राज्य दिया है
किये सतत उपकार जिन्होंने ऐसे ऐसे
त्यागें उनका सङ्ग कहो फिर हम अब कैसे

टाले नहीं कदापि जिन्होंने वचन हमारे,
बन्धु-भाव जो रहे सदा ही हम पर धारे
उनका ऐसे समय साथ कैसे हम छोड़ें?
तोड़ पूर्व-सम्बन्ध वैर कैसे हम जोड़ें

किये भरोसा सदा हमारा ही निज मन में,
दुर्योधन ने सकल कार्य हैं किये भुवन में।
फिर भी जो साहाय्य करें उनका न कहीं हम,
यही कहेंगे विज्ञ मही में मनुज नहीं हम॥

इस कारण हे जननि! रहेंगे जीवित जौलौं,
होने देंगे अहित न दुर्योधन का तौलौं।
लेंगे हम आमरण पक्ष उस बलधारी का,
करना क्या अपकार चाहिए उपकारी का?

कौरवपति की ओर धर्म्म को हम पालेंगे,
किन्तु तुम्हारे भी न वचन माँ, हम टालेंगे।
एक पार्थ को छोड़, निरत जिससे हैं पण में,
मारेंगे हम नहीं किसी पाण्डव को रण में॥

अर्जुन ही या हमीं एक जन लड़ स्वपक्ष में,
पावेंगे यदि विमल वीरगति को समक्ष में।
तो भी सुत हे जननि! रहेंगे पाँच तुम्हारे,
होंगे मिथ्या नहीं कभी ये वचन हमारे॥"

१९६६ वि०

रण-निमन्त्रण

कौरव तथा पाण्डव परस्पर विजय की आशा किये,
होने लगे जब प्रकट प्रस्तुत युद्ध करने के लिये।
उस समय निज निज पक्ष के राजा बुलाने को वहाँ,
भेजे गये युग पक्ष से ही दक्ष दूत जहाँ तहाँ॥

फिर शीघ्र ही श्रीकृष्ण को निज ओर करने युद्ध में,
देने उन्हें रण का निमन्त्रण निज-विपक्ष-विरुद्ध में।
लेने तथा साहाय्य उनसे और सर्व-प्रकार का;
दैवात् सुयोधन और अर्जुन सङ्ग पहुँचे द्वारका॥

उस समय सुन्दर सेज ऊपर सो रहे भगवान थे,
गम्भीर नीरव शान्त सुस्थिर सिन्धुसम छविमान थे।
ओढ़े मनोहर पीतपट अति भव्य रूप निधान थे,
प्रत्यूष-आतप-सहित शुचि यमुना-सलिल-उपमान थे॥

मुकुलित विलोचन युग्म उनके इस प्रकार ललाम थे,
भीतर मधुप मूँदे हुए ज्यों सुप्त सरसिज श्याम थे।
कच-गुच्छ मुखमण्डल सहित यों सोहते अभिराम थे,
घेरे हुये ज्यों सूर्य्य को घन सघन शोभा धाम थे॥

नीलारविन्द समान तनु की अति मनोहर कान्ति से,
शुचि हार-मुक्ता दीखते थे नीलमणि ज्यों भ्रान्ति से।
थे चिन्ह कन्धों में विविध यों कुण्डलों के सोहते,
मन्मथ-लिखित मानों वशीकर मन्त्र थे मन मोहते॥

निःश्वास नैसर्गिक सुरभि यों फैल उनकी थी रही,
ज्यों सुकृति-कीर्त्ति गुणी जनों की फैलती है लहलही।
सुकपोल करतल पर ललित यों दर्शनीय विशेष था,
मृदु-नवल-पल्लव-सेज पर ज्यों पड़ा नक्षत्रेश था॥

शय्या-वसन-सङ्घर्ष से जो हो रहे अति क्षीण थे
उन अंगरागों से रुचिर यों अङ्ग उनके पीन थे,
ज्यों शरद ऋतु में धवल घन के विरल खण्डों से सदा,
होती सुनिर्मल नील नभ की छवि-छटा मोद प्रदा।

था शयन-पाटाम्बर अरुण, झालर लगी जिसमें हरी;
उस पर तनिक तिरछे पड़े थे पीतपट ओढ़े हरी।
वह दिव्य शोभा देख करके ज्ञात होता था यही-
मानों पुरन्दर - चाप सुन्दर कर रहा शोभित मही।

ऐसे समय में शीघ्रता से पहुँच दुर्योधन वहाँ,
श्रीकृष्ण के सिर ओर बैठा रुचिर आसन था जहाँ।
कुछ देर पीछे फिर वहाँ आकर बिना ही कुछ कहे,
हरि के पदों की ओर अर्जुन नम्रता से स्थित रहे॥

उस काल उन दोनों सहित शोभित हुए अति विष्णु यों,
कन्दर्प और वसन्त-सेवित सो रहे हों जिष्णु* ज्यों।
फिर एक दूजे को परस्पर तुच्छ मन में लेखते,
हरि जागरण की बाट दोनों रहे ज्यों त्यों देखते॥

* जिष्णु=इन्द्र।

त समय दोनों के हृदय में भाव बहु उठने लगे,
ः कह सके कुछ भी न वे जब तक न पुरुषोत्तम जगे।
ओर से आते हुए युग जल-प्रवाह बहे बहे,
ानों मनोरम शैल से हों बीच ही में रुक रहे॥

छ देर में जब भक्तवत्सल देवकीनन्दन जगे,
। देख अर्जुन को प्रथम बोले वचन प्रियता-पगे।
: कुशल तो सब भाँति भारत! आज भूल पड़े कहाँ?
कार्य्य मेरे योग्य हो प्रस्तुत सदा मैं हूँ यहाँ॥"

ते हुए यों सेज पर निज पूर्व तनु के भाग से,
ङ्क-तकिये के सहारे बैठ कर अनुराग से।
। जान कर भी पार्थ को निज वचन कहने के लिये,
-कमल उनकी ओर हरि ने मुदित हो प्रेरित किये॥

। देख उनकी ओर हँस कर कुछ विचित्र विनोद से,
त सिर झुकाते हुए उनको नम्र होकर मोद से।
ते हुए कुरुनाथ का मुख-तेज निष्प्रभ-सा तथा,
कह सुनाई पार्थ ने संक्षेप में अपनी कथा—॥

"होते सुलभ सुख-भोग जिससे भागते भव-रोग हैं
सो कृपा जिन पर आपकी सकुशल सदा हम लोग हैं"
सम्प्रति समर-साहाय्य-हित, कर विनय, सुख पाकर महा
मैं हुआ देने 'रण-निमन्त्रण' प्राप्त सेवा में यहाँ

कर्त्तव्य ही कुरुनाथ अपना सोचता जब तक रहा
कर लिया तब तक पार्थ ने यों कार्य्य निज ऊपर कहा
यह शीघ्र घटना देख कर अति चकित-सा वह रह गया
सब गर्व उसका उस समय नैराश्य-नद में बह गया

धिक्कार तब देता हुआ वह प्रथम आने के लिए
मन के विकारों को किसी विध रोक कर अपने हिये
श्रीकृष्ण से मिल कर तथा पाकर उचित सत्कार को
कहने लगा इस भाँति उनसे त्याग सोच विचार को

"आया प्रथम गोविन्द ! हूँ मैं आपके शुभ धाम में
अतएव मुझको दीजिए साहाय्य इस संग्राम में।
मैं और अर्जुन आपको दोनों सदैव समान हैं
पर प्रथम आये को अधिकतर मानते मतिमान हैं।

ीकृष्ण बोले—"कहे तुमने उचित वचन विवेक से,
,म और पाण्डव हैं हमें दोनों सदा ही एक से।
व प्रथम आने के वचन भी सब प्रकार यथार्थ हैं,
र प्रथम दृग्गोचर हुए मुझको यहाँ पर पार्थ हैं॥

ो हो, करूँगा युद्ध में साहाय्य दोनों ओर मैं,
ालन करूँगा यह किसी विध आत्मकर्म्म कठोर मैं।
श कोटि निज सेना करूँगा एक ओर सशस्त्र मैं,
ेवल अकेला ही रहूँगा एक ओर निरस्त्र मैं॥

ो भाग निज साहाय्य के इस भाँति हैं मैंने किये,
्वीकार तुम दोनों करो, हो जो जिसे रुचिकर हिये।
ण-खेत में निज ओर से सेना लड़ेगी सब कहीं
र युद्ध की है बात क्या, मैं शस्त्र भी लूँगा नहीं॥"

ुन कर वचन यों पार्थ ने स्वीकार श्रीहरि को किया,
ुरुनाथ ने नारायणी दश कोटि सेना को लिया।
ब पार्थ से हँस कर वचन कहने लगे भगवान यों—
स्वीकृत मुझे तुमने किया है त्याग सैन्य महान क्यों?"

"होते सुलभ सुख-भोग जिससे भागते भव-रोग हैं,
सो कृपा जिन पर आपकी सकुशल सदा हम लोग हैं।
सम्प्रति समर-साहाय्य-हित, कर विनय, सुख पाकर महा,
मैं हुआ देने 'रण-निमन्त्रण' प्राप्त सेवा में यहाँ॥"

कर्त्तव्य ही कुरुनाथ अपना सोचता जब तक रहा,
कर लिया तब तक पार्थ ने यों कार्य्य निज ऊपर कहा।
यह शीघ्र घटना देख कर अति चकित-सा वह रह गया,
सब गर्व उसका उस समय नैराश्य-नद में बह गया॥

धिक्कार तब देता हुआ वह प्रथम आने के लिए,
मन के विकारों को किसी विध रोक कर अपने हिये।
श्रीकृष्ण से मिल कर तथा पाकर उचित सत्कार को,
कहने लगा इस भाँति उनसे त्याग सोच विचार को॥

"आया प्रथम गोविन्द! हूँ मैं आपके शुभ धाम में,
अतएव मुझको दीजिए साहाय्य इस संग्राम में।
मैं और अर्जुन आपको दोनों सदैव समान हैं,
पर प्रथम आये को अधिकतर मानते मतिमान हैं॥"

श्रीकृष्ण बोले—"कहे तुमने उचित वचन विवेक से,
तुम और पाण्डव हैं हमें दोनों सदा ही एक से।
तव प्रथम आने के वचन भी सब प्रकार यथार्थ हैं,
पर प्रथम दृग्गोचर हुए मुझको यहाँ पर पार्थ हैं॥

जो हो, करूँगा युद्ध में साहाय्य दोनों ओर मैं,
पालन करूँगा यह किसी विध आत्मकर्म्म कठोर मैं।
दश कोटि निज सेना करूँगा एक ओर सशस्त्र मैं,
केवल अकेला ही रहूँगा एक ओर निरस्त्र मैं॥

दो भाग निज साहाय्य के इस भाँति हैं मैंने किये,
स्वीकार तुम दोनों करो, हो जो जिसे रुचिकर हिये।
रण-खेत में निज ओर से सेना लड़ेगी सब कहीं
पर युद्ध की है बात क्या, मैं शस्त्र भी लूँगा नहीं॥"

सुन कर वचन यों पार्थ ने स्वीकार श्रीहरि को किया,
कुरुनाथ ने नारायणी दश कोटि सेना को लिया।
तब पार्थ से हँस कर वचन कहने लगे भगवान यों—
"स्वीकृत मुझे तुमने किया है त्याग सैन्य महान क्यों?"

गम्भीर होकर पार्थ ने तब यह उचित उत्तर दिया—
"था चाहिए करना मुझे जो, है वही मैंने किया।
है सैन्य क्या, मुझको जगत भी तुम विना स्वीकृत नहीं,
श्रीकृष्ण रहते हैं जहाँ सब सिद्धियाँ रहती वहीं॥"

१९६५ वि०

दो दृश्य

कहो आज किस ओर चलोगे ?

देखोगे किस ओर भला ?

एक ओर वीरत्व-विभव है,

एक ओर कारुण्य - कला !

एक दृश्य है चित्र - रूप में

आज तुम्हारे सन्मुख मित्र,

और दूसरा प्रतिविम्बित है

मनोमुकुर में महा विचित्र !

प्रबल पाण्डवों के प्रताप का
एक ओर है प्रखर प्रकाश,
एक ओर भारतमाता के
अगणित सूर सुतों का नाश।
एक ओर विजयी बलशाली
धर्मराज का है अभिषेक,
एक ओर मृत वीरवरों की
विधवाओं का शोकोद्रेक॥

पाञ्चजन्य के पुण्योदक से,
प्रभु पुरुषोत्तम के द्वारा,
एक ओर तो धर्मराज के
सिर पर गिरती है धारा।
एक ओर उस कुरुक्षेत्र से
बढ़ कर रण का रक्त-प्रवाह,
डुबा रहा है आर्य-भूमि का
बल, विक्रम, साहस, उत्साह॥

आर्यों के एकाधिपत्य का
एक ओर उत्सव भारी,
(बुझने के पहले ज्यों दीपक
बढ़ता है विस्मयकारी)
एक ओर अष्टादश-संख्यक
अक्षौहिणी चमू का अन्त,
जहाँ शकुन्त-शृगाल-गणों का
विकृत नृत्य दृग्गति पर्यन्त ॥

राजकीय दानों की अद्भुत
एक ओर है धूम बड़ी,
एक ओर उस रण के कारण
सर्वनाश की त्राहि पड़ी।
एक ओर है फुल्ल कुसुम-सा
आमोदित यह अनुपम देश,
एक ओर उस फुल्ल कुसुम में
विकट कीट का हुआ प्रवेश ॥

एक ओर जातीय - पताका
चित्र-तुल्य छवि पाती है,
एकच्छत्र सु - राज्य हमारा
ऊँचे चढ़ दिखलाती है।
एक ओर निःशंक भाव से
दल-बल-सहित विजय के अर्थ,
अन्य देशियों के आने पर
होंगे अब क्या यत्न समर्थ ?

एक ओर फूलों की वर्षा,
मानों खेल रहे तारे,
पड़े अनन्त चिताओं के हैं
एक ओर वे अंगारे।
एक ओर तो मातृभूमि पर
मधु - धारा - सी ढलती है,
एक ओर उस मृतवत्सा की
छाती धक धक जलती है॥

भिन्न भिन्न भावों का ऐसा
होगा आविर्भाव कहाँ ?
एक ओर गौरव-गरिमा है
एक ओर है पतन यहाँ !
एक ओर बल का विकास है
एक ओर है उसका ह्रास,
एक ओर उल्लास-वास है
एक ओर है श्वासोच्छ्वास !

समझ नहीं पड़ता है कुछ भी
उधर जायँ या रहें इधर,
तुम्हीं कहो अब किधर चलोगे,
देखोगे हे मित्र ! किधर ?
एक ओर हो रहा धर्म का
जयजयकार अपार अनन्त,
एक ओर कातर कण्ठों का
हाहाकार हरे हा हन्त !

भारत की दोनों आँखों की
भिन्न भिन्न है आज छटा,
एक आँख प्रेमाश्रु पूर्ण है,
एक आँख शोकाश्रु-घटा।
आओ तब दोनों आँखों से
देखें हम भी दोनों ओर,
एक आँख से अपनी उन्नति
एक आँख से अवनति घोर॥

१९६७ वि०

गंगा

यह घट इतना कहाँ हाय ! जो
इस में रहती गङ्गा ?
मुझे हाथ धोने का अवसर
दे तू बहती गङ्गा !

देखे हैं कितने युग तूने,
क्या कहती है गङ्गा ?
आज हमारे पाप ताप ही
तू सहती है गङ्गा !

तुझसे बुझती रहे चिता वह
जो दहती है गङ्गा !
फूल भेंट के साथ बाँह यह
तू गहती है गङ्गा !

बहती रह इस महा मही पर
मेरी महती गङ्गा !
मुझे हाथ धोने का अवसर
दे तू बहती गङ्गा !

१९८८ वि०

बुद्ध भगवान

सुखमय शान्ति-निधान कहो ये कौन हैं ?
तेजः - पुञ्ज - विधान कहो ये कौन हैं ?
तपोनिरत विख्यात यही विभु 'बुद्ध' हैं ;
स्वयं ईश हैं, अतः निरीश्वर शुद्ध हैं ॥

विजयी हैं ये महा मोह संग्राम के ;
अधिकारी हैं परम पूर्ण विश्राम के ।
शम-दम के आधार, दया के धाम हैं ;
सदानन्द, स्वच्छन्द और निष्काम हैं ॥

भारत-भाग्याकाश भव्य ये भानु हैं,
विषय-विपिन के लिए कराल कृशानु हैं।
भारत में ही नहीं, विश्व भर में कभी—
फैलाया आलोक, मिटाया तम सभी ॥

मूर्ति समझिए इन्हें अलौकिक त्याग की,
चली न इनके निकट एक भी राग की।
शिशु सुत, युवती प्रिया, राज्य-वैभव तथा
परहितार्थ तज दिये इन्होंने सर्वथा !

तन पर केवल एक गेरुवा वस्त्र था,
एकाकी थे, पास न कोई शस्त्र था।
जीत लिया संसार किन्तु निज शक्ति से,
सब के सिर झुक पड़े स्वयं ही भक्ति से !

आश्रय हैं ये अतुल अतर्कित युक्ति के,
पथ दर्शक हैं स्वतन्त्रता या मुक्ति के,
किसी स्वार्थ के लिए न इनका कर्म्म है,
प्राणिमात्र में आत्मभाव ही धर्म्म है ॥

गीताऽमृत के मेघ दया करते न जो,
समयोचित वर बुद्ध रूप धरते न जो
तो वेदों का ध्यान हमें रहता कहाँ ?
बनते नर पशु-हिंस्र मखों के मिष यहाँ ॥

कोरा ईश्वर-वाद करेगा क्या कहो ?
हैं जो प्रभु के कर्म्म उन्हें करते रहो ।
बौद्ध और ब्राह्मण्य धर्म्म यों एक है,
दोनों में ही यही अभिन्न विवेक है ॥

१९७० वि०

तुलसीदास

[१]

देखकर सहसा हमारी साधना म्रियमाण—
जिस कमण्डलु के अमृत ने थे बचाये प्राण।
वह तुम्हारे हाथ में था साधु तुलसीदास!
जी उठी फिर भावना, दृढ़ होगया विश्वास॥

जब तमोमय शून्य में भय दृश्य थे सब ओर,
जब निराशा की घटाएँ कर रहीं थीं घोर।
तब तुम्हींने था किया मानस-सरोज-विकास,
कवि कहें या रवि तुम्हें हे अमर तुलसीदास!

हो गया जब आदि-कवि का मार्ग दुर्गमनीय,
सुगम तुमने ही किया करके उसे कमनीय।
मुक्त जीवन-धन लिये हो जायँगे हम पार,
देखता रह जायगा संसार-पारावार!

रम्य रामचरित्र भी तुमसे हुआ कृतकार्य्य,
आर्द्र होते हैं जिसे सुन आर्य्य और अनार्य्य।
काव्य से इतिहास हैं, इतिहास से हैं तन्त्र,
तन्त्र से फिर हैं तुम्हारे वाक्य वैदिक मन्त्र!

पैठ संस्कृत-सिन्धु में पाये जहाँ जो रत्न—
ग्रथित करने में उन्हें करके अलौकिक यत्न।
हार जो तुमने दिये इस देश को उपहार—
कर सकेगा कौन उनके मूल्य का निर्धार?

प्रस्फुटित करके हमारा पुण्य पूर्णादर्श,
हृदय को तुमने दिया है अमृत - हस्तस्पर्श।
राम राजा ही नहीं, पूर्णावतार पवित्र,
पर न हमसे भिन्न है साकेत का गृहचित्र॥

है हमारे अर्थ बस आदर्श ही आराध्य,
और साधन भी उसीका है हमारा साध्य।
जो हमारे सामने करदे उसे प्रतिभात,
है वही तुम-सा हमारा विश्व-कवि विख्यात॥

प्रकृति-पट पर धन्य वह अन्तर्जगत का दृश्य,
धन्य वह सङ्गीतमय सत्काव्य हृदय-स्पर्श।
धन्य भारतवर्ष का प्रतिभा-प्रकाश-विलास,
धन्य रामचरित्र मानस, धन्य तुलसीदास!

१९७२ वि०

[२]

कवे, तुम्हारी पुण्य-स्मृति से
सचमुच हम सब शुचि होते हैं,
सुकृति, तुम्हारी अविकृति कृति से
कोटि कोटि कल्मष धोते हैं।

तुम्हें विश्व ने कुछ न दान कर
धन जन साधन हीन किया था,
तुमने उसको दीन जान कर
कितना गौरव ज्ञान दिया था।

तुममें इतना प्रेम भरा था
जो भुजंग को रज्जु बनाया,
पर विषयों में कुछ न धरा था,
तुमने उससे प्रभु को पाया।

साधु तुम्हारी प्रेत - साधना
परमात्मा में परिणति जिसकी,
विश्व - हेतु विभु - गुणाराधना
करती है यों शुभमति किसकी?

शब्द शिल्पि, चिर कविता-मन्दिर
तुमने जो निर्माण किया है,
भ्रान्त श्रान्त जीवों का फिर फिर
उसने कितना त्राण किया है।

वह मानस आदर्श तुम्हारा,
मनस्ताप सब हट जाता है;
उसमें रामचरित - रस - धारा
पाप आप ही कट जाता है।

दास हुए तुम जिसके आकर
घर घर क्यों न पुजे वह तुलसी,
धन्य हुई तुम-सा सुत पाकर
प्यारी मातृभूमि माँ हुलसी।

—

विकट भट

ओंठों से हटा के रिक्त स्वर्ण-सुरा-पात्र को,
सहसा विजयसिंह राजा जोधपुर के,
पोकरणवाले सरदार देवीसिंह से
बोले दरबार खास में कि—"देवीसिंहजी,
कोई यदि रूठ जाय मुझसे तो क्या करे?"
बोले सरदार—"खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या?
ऐसा कौन होगा कि जो रूठ जाय आप से?"
बोले फिर भूप—"तो भी पूछता हूँ, क्या करे?"
"जीवन से हाथ धोवे और मरे मुझसे"

देवीसिंह ने यों कहा। भूप फिर बोले यों—
"और तुम रूठ जाओ तो बताओ, क्या करो?"
देवीसिंह चौंके—"खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या!
आपसे मैं रूठ जाऊँ, ऐसा भाव क्यों हुआ?"
राजा ने कहा कि "मैंने पूछा है सहज ही,
यदि तुम रूठ जाओ तो बताओ, क्या करो?"
देवीसिंह बोले—"खमा अन्नदाता, यह क्या?
सेवक हूँ मैं तो और आप मेरे स्वामी हैं;
आपसे क्यों रूठूँगा भला मैं? आप मुझको—
देते हैं टुकड़े और उनसे मैं जीता हूँ;
जाऊँगा कहाँ मैं फिर रूठ कर आपसे?"
"तोभी, यदि रूठ जाओ?" पूछा फिर राजा ने।
उत्तर दिया यों सरदार ने पुनः—"क्या मैं
नमकहराम हूँ जो रूठ जाऊँ स्वामी से?"
फिर भी विजयसिंह प्रश्न करने लगे।
सुन कर बार बार बात वही उनकी
वृद्ध वीर ठाकुर को क्रोध कुछ आगया।
लाली दौड़ आई सौम्य, शान्त, गौर गात्र में,
वदन गभीर हुआ, किन्तु रहे मौन वे।

बोले फिर भूप—"देवीसिंहजी, कहा नहीं ?
यदि तुम रूठ जाओ मुझसे तो क्या करो ?"
"पृथ्वीनाथ, मैं जो रूठ जाऊँ" कहा वीर ने—
"जोधपुर की तो फिर बात ही क्या, वह तो
रहता है मेरी कटारी की पर्तली में ही ,
मैं यों 'नवकोटी मारवाड़' को उलट दूँ ।"
कहते हुए यों ढाल सामने जो रक्खी थी ,
बायें हाथ से उन्होंने उलटी पटक दी !
सन्नाटा सभा में हुआ, सब चुपचाप थे ;
सिर को हिलाते हुए सन्न रहे राजा भी !

दूसरे दिवस देवीसिंह दरबार में
जाने के लिए जो सिंहपौर पार करके ,
चौक में—करों के बल—पीनस से उतरे ,
एक जन पीछे से उठा के खड्ग उनका ,
भाग गया, लौट कर देखा जो उन्होंने तो
ढाल ही दिखाई पड़ी, चौंक उठे तब वे !
चारों ओर दृष्टि डाली, द्वार सब बन्द थे ;
पीनस के डण्डे पर रक्खे हुए हाथ वे

क्षण भर सोचा किये इस अभिसन्धि को।
देखा सिर ऊँचा कर ऊपर को अन्त में—
सामने विजयसिंह छत पर थे खड़े।
"मेरे साथ ऐसा व्यवहार! भला, अब क्या
इच्छा है?" उन्होंने कहा भूपति को देख के।
आज्ञा हुई—"शीघ्र इसे जीता ही पकड़ लो!"
पीनस का डंडा किन्तु अब भी था हाथ में,
जाता कौन मरने को ठाकुर के सामने!
फन्दे तब फेंके गये उनके फँसाने को
और वे फँसाये गये, बाँधे गये खम्भ से!

"हाँ, अब अमल आवे" आज्ञा हुई नृप की;
सोने के कटोरों में अफीम घुलने लगी।
देवीसिंह को भी वह ठीकरे में मिट्टी के
भेजी गई, देखते ही मानी सरदार से
अब न सहा गया, रहा गया न मौन भी—
"अधम, अधर्मी, अकृतज्ञ, अनाचारी रे,
ऐसा अपमान!" कोड़ा खाके भला घोड़ा ज्यों—
तड़पै, त्यों ठाकुर ने एक झटका दिया,

टूट गये बन्धन तड़ाक, किन्तु वेग था ,
सँभला न मस्तक, भड़ाक हुआ भीत में !
शोणित की लालिमा को चिन्ह सम छोड़ के
ठाकुर का जीवन-दिनेश अस्त हो गया !

"हाय ! पिता, ऐसा परिणाम हुआ आपका !
किन्तु आपका ही पुत्र हूँ मैं, यदि राजा के
सामने प्रणत होऊँ तो मैं नत होऊँगा
अपनी ठकुरानी के आगे, यही प्रण है ।
आता है चढ़ाई कर पोकरण, आने दो ,
देखूँगा कृतघ्न को मैं, प्रस्तुत हो भाइयो ,
मान रखने को आज प्राण हमें देने हैं ।"
यों कह सबलसिंह पोकरण दुर्ग में
बोले फिर—"जाय वह प्राण जिसे प्यारे हों ,
प्रस्तुत हो मरने के अर्थ जो रहे वही ।"
"प्रस्तुत हैं हम सब" सैनिकों ने यों कहा
और, जो कहा सो सब करके दिखा दिया ;
प्राण-मोह छोड़ उन मुट्ठी भर वीरों की—
टुकड़ी ने झंझा के समान, जोधपुर के

घोर दल-बादल को छिन्न-भिन्न करके
और भली भाँति से उड़ाके धूलि उसकी
रण में सबलसिंह-युक्त गति वीरों की—
पाई और मानों स्वर्ग लेकर ही शान्ति ली !

सबल पिता का पुत्र, पौत्र देवीसिंह का
बालक सवाईसिंह बारह बरस का ,
लड़ने को उद्यत था; किन्तु था अकेला ही ;
सेना हत हो चुकी थी पहले ही । राजा का
हुक्म हुआ—"जोधपुर हाजिर करो उसे ।"

"बेटा, तुझे राजा ने बुलाया है, न जाने से
तू भी न बचेगा, किन्तु"—बीच में ही माता से
बोला वीर बालक कि "जननी, मैं जाऊँगा ।
किन्तु इससे नहीं, कि यदि मैं न जाऊँगा
तो मैं भी बचूँगा नहीं, किन्तु इससे कि मैं
देखूँगा कृतघ्न और क्रूर उस राजा के
सींग पूँछ हैं या नहीं, क्योंकि पशुओं से भी
नीच तथा मूढ़ महा मानता हूँ मैं उसे ।"

बोली तब वीर-माता आँसुओं से भीग के—
"वत्स, जाने में भी मुझे क्षेम नहीं दीखता।
ससुर गये हैं और स्वामी गये साथ ही,
मेरे लाल, तू भी चला, कैसे धरूँ धैर्य्य मैं?
रोने तक का भी अवकाश मुझे है नहीं;
तो भी आनबान विना मरना है जीना भी।
तुझको भी प्राणहीन देख सकती हूँ मैं,
किन्तु मानहीन देखा जायगा न मुझसे।
सहना पड़ेगा सो सहूँगी, किन्तु देखना,
कहना वही जो कहा तेरे पितामह ने;
भूल मत जाना जिस बात पर वे मरे।
अच्छा, कह, तेरी कटारी की पतली में भी
जोधपुर है या नहीं?" पुत्र तब बोला यों—
"इसका जवाब उसी घातक को दूँगा मैं;
तू क्यों पूछती है प्रसू, क्या इस शरीर में
शोणित क्रमागत नहीं है उन्हीं दादा का?
किन्तु एक प्रार्थना मैं करता हूँ तुझसे,
अन्ततः माँ, मेरा वह उत्तर सुने विना
छोड़ना न नश्वर शरीर यह अपना।

अपने अभागे इस पुत्र के विषय में
संशय लिये ही चली जाना तू न तात के
पीछे, जिसमें कि उन्होंने दे न सके तोष तू !"

"जा, बेटा कदाचित सदा के लिये" हायरे !
करुणा से कण्ठ भर आया ठकुरानी का ।
जाकर अँधेरी एक कोठरी में वेग से,
पृथ्वी पर लोट वह रोई ढाढ मार के,
व्योम की भी छाती पर होने लगी लीक-सी !

पुनरपि जोधपुर । जीत पोकरण को
पीकर विजयसिंह एक प्याला और भी,
बोले आहुए के सरदार जैतसिंह से—
"जैतसिंह जी, क्या कहीं कोई ठौर ऐसा है
डङ्के को बजा कर मैं जाऊँ जहाँ चढ़ के ?"
बोले जैतसिंह—"पृथ्वीनाथ, भला कौन-सा
ऐसा ठौर है कि जहाँ जोधपुर के धनी
डङ्के को बजा के चढ़ें ?" भूप फिर बोले यों—

"मैंने दूर दूर तक सोच कर देखा है,
किन्तु तो भी दीख नहीं पड़ता है मुझको,
जाऊँ जहाँ चढ़के मैं। देखूँ, तुम्हीं सोचके
ऐसा ठौर बतलाओ।" जैतसिंह बोले यों—
"पृथ्वीनाथ, ऐसा कौन ठौर है बताऊँ जो?"
"तो भी" कह ठाकुर की ओर जो महीप ने
देखा तो भृकुटियाँ थीं टेढ़ी वहाँ हो रहीं।
बोला सरदार—"पृथ्वीनाथ! पूछते ही हैं
तो मैं कई ऐसे ठौर आपको बताऊँगा,
जैसे है उदयपुर जयपुर है, जहाँ—
जावें तो हुजूर के भी दाँत खट्टे हो जावें!
किन्तु वे तो दूर भी हैं, सेवक को आज्ञा हो,
जाऊँ आहुए मैं और पृथ्वीनाथ डङ्का दे
चढ़कर आवें वहीं!" वीर चुप हो गया।

"ऐसा है!" महीप बोले—"तो मैं बिदा देता हूँ
आहुए पधारें आप और सावधान हों।"
कहके "जो आज्ञा" उठे जैतसिंह शीघ्र ही;
डेरे पर आये और आहुए चले गये।

भाई-बन्द और सब सैनिक भी अपने
जोड़ के उन्होंने सब हाल कहा उनसे।
बोले सब—"चिन्ता कौन-सी है ? चढ़ आने दो,
क्या कर सकेंगे महाराज यहाँ अपना ?"
सत्य ही विजयसिंह आहुए का, कोप से
करके चढ़ाई भी न कर सके कुछ भी।
तीन दिन बीत गये युद्ध करते हुए।
बोले तब वे कि—"अरे, टूटा नहीं आहुआ ?"
उत्तर मिला यों—"खमा पृथ्वीनाथ, अब भी
आहुए में जैतसिंह जीवित जो बैठे हैं।"
सोचा तब भूप ने कि टूटा नहीं आहुआ
यह तो कलङ्क होगा, "अच्छा, जैतसिंह से
जाकर कहो कि हमें दुर्ग में वे आने दें,
रोकें नहीं।" ठाकुर ने आज्ञा यह उनकी
मान ली, यों भूपति ने आहुए के दुर्ग में
जाकर प्रवेश किया, ठाकुर ने उनकी
फेर दी दुहाई, नजरें दीं, मनुहारें कीं,
और उनके ही साथ आये जोधपुर वे।

किन्तु रात को जो वहाँ सोये वे महल में
तो फिर जगे नहीं, सबेरे यों सुना गया—
"जैतसिंह मारे गये सोते हुए रात को !"

सुन सब लोग हाय ! हाय ! करने लगे ;
कहता परन्तु कौन भूपति से कुछ भी ?
बोला एक चारण कि—"मैं कहूँगा राजा से !"

पहुँचे उसी दिन सवाईसिंह भी वहाँ ;
देख कर लोग उन्हें हाथ मलने लगे—
बारी है अब हा ! इस केसरी-किशोर की !

दो दो निज कण्टक जो सालते थे, टाल के
बैठे हैं विजयसिंह आम दरबार में ;
किन्तु क्यों, न जानें, आज भी हैं वे उदास-से ।
सब सरदार भी हैं बैठे मौन भाव से ,
मानों स्तब्ध रजनी में तारागण व्योम के !

"राजा, बुरा काम किया" गूँजी गिरा सहसा !
चौंक कर भूपति ने देखा तब सामने
और दरबारियों ने, चारण था कहता।
कर लिये नीचे सिर देख कर सबने ;
किन्तु इतनी भी ताब भूपति की थी नहीं !
कहता था चारण गभीर धीर वाणी से—
"राजा, बुरा काम किया, मैं ही नहीं कहता ,
राजा, बुरा काम किया, कहते हैं यों सभी।
मारना नहीं था जैतसिंह जैसे वीर को ;
तोड़नी नहीं थी वह मूर्ति स्वामिधर्म्म की ;
माननी नहीं थीं तुझे बातें बेईमानों की !
तुझ पर मरने को प्रस्तुत था आप ही
शूर वह, मारना ही था तो उसे गाढ़े में
आड़ा कर देना था, न पीछे वह हटता।
वीर वह ऐसा था कि आयुधों की झाड़ी में
तेरा मार्ग स्वच्छ कर देता अग्रगामी हो !
शत्रुओं के हाथियों के हौदे बस खाली ही
तुझको दिखाता वह अपने प्रहारों से।
अब जब युद्ध में विपक्षियों के व्यूह में ,

टङ्कारित होंगे चाप, झङ्कारित असियाँ,
भीड़ पड़ने से तब याद उस वीर की
सालेगी हिये में तुझे, तू ही तब जानेगा।"

मौन हुआ चारण, महीपति भी मौन थे ;
सचमुच जैतसिंह ऐसा ही पुरुष था।
पोकरण और आहुआ थे जोधपुर के—
अर्गल दो, टूट गये किन्तु अब दोनों ही
कौन यवनों को, मराठों को, अब रोकेगा ?
राजा पछताये, भर आये नेत्र उनके ;
किन्तु बस क्या था अब होगया सो होगया।
जी में क्रुद्ध हो रहे थे भूप पर लोग जो
आगई उन्हें भी दया दैन्य देख उनका !

हाथ के इशारे से बिठाते हुए शान्ति से
चारण को, बोले वे—"सवाईसिंह है कहाँ ?
लाओ उसे शीघ्र" दौड़े चोबदार शीघ्र ही
और बुला लाये उस एक कुलदीप को।

निर्भय मृगेन्द्र नया करता प्रवेश है—
वन में ज्यों, डाले विना दृष्टि किसी ओर त्यों,
भोर के भभूके-सा, प्रविष्ट हुआ साहसी
बालवीर, मन्द मन्द धीर गति से धरा
मानो धँसी जा रही थी, वदन गभीर था,
उठता शरीर मानों अंगे में न आता था,
वक्षस्थल देख के कपाट खुले जाते थे,
मरने मारने ही को मानों कटि थी कसी,
शोभित सुखड्ग उसमें था खरे पानी का,
पर्तली पड़ी थी उपवीत-तुल्य कन्धे में,
उसमें कटार खोंसी, जिसकी समानता
करने को भौहें भव्य भाल पर थी तनी!
छू रहा था बायाँ हाथ बढ़ कर जानु को,
दायें हाथ में थी साँग, पीठ पर ढाल थी;
तोड़े के स्वरूप में था सोना पड़ा पैरों में;
आकृति ही देती थी परिचय प्रकृति का!

चौंक पड़ी सारी सभा देख वीर बाल को;
जान पड़ा भूप को कि देवीसिंह ही नया—

जन्म लेके आ रहे हैं आज फिर से यहाँ !
चाल वही, ढाल वही, गौरव वही तथा
गर्व भी वही है ! तब प्रश्न किया राजा ने—
"बालक, सुनो, क्यों तुम्हें मैंने बुला भेजा है,
जोधपुर रहता था पर्तली में जिसकी
देवीसिंह वाली सो कटारी कहो मुझसे,
अब भी तुम्हारे पास है या नहीं ?" राजा के
पूछने के साथ ही सवाईसिंह ने कहा
निर्भय—"कटारी ? धरा काँपी सदा जिससे ?"
'कण्ठ भी वही है अहा !' जी में कहा राजा ने
सुन के—"कटारी ? धरा काँपी सदा जिससे ?
बिजली की बेटी वह ? भौंह महाकाल की ?
शत्रु के चबाने को कराल डाढ़ यम की ?
चम्पावत ठाकुरों की 'पत' वह लोक में ?
पूछते हैं आप क्या उसीकी बात ?" राजा का
उनके न जानते ही सम्मति के अर्थ में
माथा डुला, कहता था बालक—"तो सुनिये,
दादा ने कटारी वह मेरे पिता के लिए
छोड़ी, और मेरे पिता सौंप गये मुझको ।

पर्तली के साथ वह मेरे इस पार्श्व में
अब भी है पृथ्वीनाथ, एक जोधपुर क्या ?
कितने ही दुर्ग पड़े रहते हैं सर्वदा
क्षात्र-कीर्ति-कोषवाली पर्तली में उसकी !
सच्ची बात कहने से आप रूठ जायँगे ;
किन्तु जब पूछते हैं कैसे कहूँ झूठ मैं ?
होता जो न जोधपुर पर्तली में उसकी ,
कहिये तो कैसे वह प्राप्त होता आपको ?"

सिंहासन छोड़ उठे भूपति तुरन्त ही ,
छाती से लगा के उस क्षत्रियकुमार को
चारण से बोले यों कि—"बारटजी, सत्य ही
मैंने बुरा काम किया, भूल हुई मुझसे ।
किन्तु देवीसिंह और जैतसिंह दोनों ही
मर के भी जीवित हैं, देखो, इस बच्चे को
और आशीर्वाद दो कि यह सुख से जिये ।
मैं भी यही आशीर्वाद आज इसे देता हूँ ।"

बाजीप्रभु देशपाण्डे

पन्हाल नामी गढ़ में सचेष्ट,
विख्यातकर्म्मा जब थे शिवाजी।
लेने पिता का बदला उन्हींसे,
आया वहाँ फाजलखाँ ससैन्य॥

वैरी चढ़े यद्यपि थे हजारों,
हुए न तो भी सफलप्रयत्न।
होता रहा युद्ध कई महीने,
सुयुक्ति से शक्ति सदैव हारी॥

हुई कई बार विशेष हानि,
हटे न वैरी फिर भी वहाँ से।
लगे शिवाजी तब सोचने यों—
कैसे चलेगा अब काम ऐसे॥

हो मुक्ति जैसे इस आपदा से,
सोची उन्होंने तब और युक्ति।
ले वीर बाँके कुछ एक रात,
निःशंक हो वे निकले वहाँ से॥

घिरे हुए थे नृप रक्षकों से,
उत्साह से थे वह किन्तु आगे।
सुयोग्य सेनापति धीर वीर,
थे साथ बाजीप्रभु देशपाण्डे॥

क्रोधान्ध होके सहसा इन्होंने,
धावा किया सत्वर शत्रुओं पै।
जैसे मृगों के गण में सरोष,
क्षुधार्त पञ्चानन टूटते हैं॥

होके सुकर्तव्य-विमूढ़ भीत,
मारे गये शीघ्र अनेक वैरी।
विशाल सेनार्णव तैर मानों,
लिया इन्होंने पथ राँगना का॥

जाता हुआ देख इन्हें सगर्व,
पीछा किया तत्क्षण शत्रुओं ने।
निस्तब्धता भंग हुई निशा की,—
"शिकार भागा, पकड़ो न छोड़ो॥"

विषाक्त बातें सुन वैरियों की,
जौलों खड़े हों फिरके शिवाजी।
तत्काल ही जान अनर्थ होता,
विनीत बाजीप्रभु ने कहा यों—

"हमें यहाँ रोक कटूक्तियों से,
हैं चाहते शत्रु अभीष्ट-सिद्धि।
करे शठों से शठता सदैव,
न नीति भूलो अपनी नरेश!

मैं रोकता हूँ सब शत्रुओं को,
बढ़ो यहाँ से तुम शीघ्र आगे।
हे तात! मेरा कहना विचारो,
रक्षा इसीमें अब है हमारी॥"

बोले शिवाजी तब हो गभीर—
"आओ, मरेंगे सब साथ आज।
तुम्हें यहाँ सङ्कट में गिरा के,
क्या प्राण-रक्षा अपनी करूँ मैं?"

हो व्यग्र बाजीप्रभु शीघ्र बोले—
"मेरे लिए सोच करें न आप।
उद्देश्य-रूपी मख में हमारे,
अनेक साथी बलिदान होंगे॥

अनेक बाजीप्रभु देश में हैं,
है एक ही किन्तु यहाँ शिवाजी।
पूरा हुआ कार्य नहीं अभी है,
क्या क्या न जानें करना तुम्हें है॥

मौका नहीं वादविवाद का है,
हैं आ रहे शत्रु सवेग पीछे।
जाओ, दुहाई तुमको शिवा की,
हरे! महाराष्ट्र न हो अनाथ॥"

निदान लेके तब वीर आधे,
बिदा हुए व्याकुल हो शिवाजी।
ससैन्य बाजीप्रभु वैरियों की,
रहे प्रतीक्षा करके अदृश्य॥

ज्यों ही विपक्षी निकले वहाँ से,
वे क्रुद्ध हो टूट पड़े सवेग।
होने लगा युद्ध अतीव घोर,
सींची गई शोणित से धरित्री॥

दो याम बीते लड़ते परन्तु,
सके न वैरी बढ़ एक पाद।
हुआ क्षतच्छिन्न शरीर सारा;
हटे न बाजीप्रभु किन्तु पीछे॥

जो आज प्राणों पर खेल के ये,
न रोक लेते सब शत्रुओं को।
या तो शिवाजी बचते न जीते,
या हाथ आते निज शत्रुओं के॥

आये शिवाजी जब रांगना में,
दागी गई पीवर पाँच तोपें।
था क्षेम का सूचक भीमनाद,
निश्चिन्त बाजीप्रभु हो गये यों॥

फैली मुख-श्री उनकी अपूर्व,
किया उन्होंने प्रभु-धन्यवाद।
निर्वाण के पूर्व यथा प्रदीप—
वे तेज से पूर्ण हुए विशेष॥

की स्वामिरक्षा मर के जिन्होंने,
हैं धन्य बाजीप्रभु देशपाण्डे।
अहो! महाराष्ट्र-लियोनिडास!
है सर्वथा दुर्लभ मृत्यु ऐसी॥

थे वीर ऐसे जिनके वरिष्ट,
होते शिवाजी न समर्थ कैसे?
नवीन राष्ट्रस्थिति-योग्य कार्य्य,
भला कहीं हो सकते अकेले?

१९६७ वि०

न्यायादर्श

काम एक से एक हुए जिनके महान हैं,
अब भी जिसके यशस्तम्भ दण्डायमान हैं।
वीरसिंह का नाम जानता कौन नहीं है?
उन्हें महाबल - धाम मानता कौन नहीं है?

कहते हैं, बस एक पुत्र था पहले उनके,
होवे थे सब भीत नाम ही जिसका सुनके।
उनके कुल में जन्म लिया था उसने ऐसे—
रत्नाकर से हुआ हलाहल प्रकटित जैसे॥

कुल-कलङ्क वह राजपुत्र अति अविचारी था,
निष्ठुरता की मूर्ति भयङ्कर बलधारी था।
उसके कारण सदा प्रजा शंकित थी सारी,
रक्षक भक्षक बने समय की है बलिहारी॥

मृग, शूकर, विहगादि मार कर बड़े चाव से,
साथ लिए दो चार श्वान स्वच्छन्द भाव से।
एक बार जब लौट रहा था वह शिकार से,
हार रहा संध्या-प्रकाश था अन्धकार से॥

जाते हुए दिनेश - ओर युग लोचन लाये,
संध्या करता हुआ यथाविधि ध्यान लगाये।
अर्घ्य-पात्र जल-पूर्ण हाथ में लिये सुहाया,
पथ में कोई पथिक दृष्टि में उसके आया॥

जाकर उसके निकट राजसुत उससे बोला,
रख मानों नर-रूप पाप ने मुख को खोला—
"अर्घ्य-दान-मिस अरे! धूल में जल न मिला दे,
थके हमारे श्वान इसे तू उन्हें पिला दे॥

बेचारा वह पथिक राज-सुत को क्या जाने,
जाने भी, पर कौन आर्य्य यह कहना माने ?
दोनों भौहें तान पथिक ने नयन तरेरे,
पर तुरन्त रिस-रोक सूर्य्य-सम्मुख दृग फेरे ॥

एक क्षुद्र जन राजपुत्र पर करे रोष यों,
हो सकता है कभी क्षमा के योग्य दोष यों !
"नीर नहीं तो रक्त पिला रे खल !" यों कह कर,
राजपुत्र ने छोड़ दिये वे श्वान पथिक पर !!

महा भयङ्कर और तीक्ष्णतर डाढ़ों वाले,
दौड़े वे तत्काल पथिक पर काले काले।
इधर उधर से उसे पकड़ कर काटी काया,
जरा देर में चीर-फाड़ कर मार गिराया !

वीरसिंह को इस अनर्थ की खबर लगी जब,
उनके मन में महादुःख की ज्वाल जगी तब।
पीछे सुत पर घोर अनादर उपजा उर में,
किन्तु छिपा कर भाव गये वे अन्तःपुर में ॥

उनको आया देख उठी आदर से रानी,
कर कुछ प्रेमालाप भूप बोले मृदु वाणी।
"निष्ठुरता से कहीं किसीको कोई मारे,
तो उसको क्या दण्ड ध्यान में जँचे तुम्हारे?"

तब सँभालती हुई शीश-पट परम सयानी,
नम्र भाव - परिपूर्ण विनय युत बोली रानी—
"मुझ अबला में ज्ञान कहाँ से इतना आवे,
पर जो जैसा करे क्यों न वैसा ही पावे॥"

सुन रानी के वचन हुआ सन्तोष नृपति को,
और उन्होंने बहुत सराहा उसकी मति को।
शोभित कर फिर शीघ्र उन्होंने न्यायालय को,
वैसा ही दृढ़ दण्ड सुनाया आत्म-तनय को!

न्यायप्रियता देख भूप की विस्मित होकर,
भूल गये सब राजपुत्र का कर्म्म कठिनतर।
गद्गद होकर सभ्य जनों ने विनय सुनाया,
क्षमा-दान के लिये उन्हें बहु विध समझाया॥

वीरसिंह ने बात किसीकी एक न मानी,
फिर वह पलटी नहीं कही मन में जो वाणी—
"न्याय-समय सम्बन्ध, मुझे है ध्यान न तेरा,
न मैं किसीका और न कोई सम्प्रति मेरा ॥"

अपने सम्मुख पुनः उन्होंने सुत के तनु पर,
लेप कराया दही और चीनी का सत्वर।
जिन हाथों में रत्न जड़े दो कड़े पड़े थे,
बन्धन उनके लोह - शृङ्खला - युक्त कड़े थे ॥

राज-पुत्र की दशा की गई आखिर वैसी,
उसके द्वारा हुई पथिक जन की थी जैसी!
सर्वनाश हो, धीर न्याय को त्याग न सकते,
पक्षपात, अविचार न उनके पास फटकते ॥

पर निज सुत न्यायार्थ जिन्होंने मारा ऐसे,
रखता निःसन्तान उन्हें परमेश्वर कैसे?
जन्मे सुत हरदौल - सदृश उनके सुधाम में,
पूजित जो हो रहे आज भी ग्राम ग्राम में ॥

महाराज पृथ्वीराज का पत्र

[महाराना प्रतापसिंह के प्रति]

[महाराना प्रतापसिंह स्वाधीनता की रक्षा के लिए वन वन भटकते रहे पर उन्होंने अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की। एक वार कौटुम्बिक विपत्ति के कारण उनका हृदय विचलित हो गया था। इसी से उन्होंने अकबर के साथ सन्धि करने का निश्चय किया था। किन्तु बीकानेर के महाराज पृथ्वीराज का यह पत्र पाकर वे फिर अपने व्रत पर आरूढ़ होगये थे।]

स्वस्तिश्री स्वाभिमानी कुल-कमल तथा हिन्दुआसूर्य सिद्ध,
शूरों में सिंह सुश्री शुचिरुचि सुकृती श्री प्रताप प्रसिद्ध।
लज्जाधारी हमारे कुशल युत रहें आप सद्धर्म-धाम;
श्रीपृथ्वीराज का हो विदित विनय से प्रेम-पूर्ण प्रणाम॥

मैं कैसा हो रहा हूँ इस अवसर में घोर-आश्चर्य-लीन,
देखा है आज मैंने अचल चल हुआ, सिन्धु संस्था-विहीन!
देखा है, क्या कहूँ मैं, निपतित नभ से इन्द्र का आज छत्र,
देखा है और भी, हाँ, अकबर-कर में आपका सन्धि-पत्र!

आशा की दृष्टि से वे पितर-गण किसे स्वर्ग से देखते हैं?
सच्ची वंशप्रतिष्ठा क्षिति पर अपनी वे कहाँ लेखते हैं?
मर्यादा पूर्वजों की अब तक हम में दृष्टि आती कहाँ है?
होती है व्योम-वाणी वह गुण-गरिमा आप ही में यहाँ है॥

खो के स्वाधीनता को अब हम सब हैं नाम के ही नरेश,
ऊँचा है आपसे ही इस समय अहो! देश का शीर्ष-देश।
जाते हैं क्या झुकाने अब उस सिर को आप भी हो हताश?
सारी राष्ट्रीयता का शिव शिव! फिर तो हो चुका सर्वनाश!

हाँ, निस्सन्देह देगा अकबर हमसे आपको मान-दान,
खोते हैं आप कैसे उस पर अपना उच्च धर्माभिमान?
छोड़ो स्वाधीनता को मृगपति! वन में दुःख होता बड़ा है;
लोहे के पींजड़े में तुम मत रहना स्वर्ण का पींजड़ा है!

ये मेरे नेत्र हैं क्या कुछ विकृत कि हैं ठीक ये पत्र-वर्ण ?
देखूँ है क्या सुनाता विधि अब मुझको, व्यग्र हैं हाय ! कर्ण
रोगी हों नेत्र मेरे वह लिपि न रहे आपके लेख जैसी
हो जाऊँ देव ! चाहे वधिर पर सुनूँ बात कोई न वैसी

बाधाएँ आपको हैं बहु विध वन में, मैं इसे मानता हूँ
शाही सेना सदा ही अनुपद रहती, सो सभी जानता हूँ
तो भी स्वाधीनता ही विदित कर रही आपको कीर्त्तिशाली
हो चाहे वित्त वाली पर उचित नहीं दीनता चित्त वाली

आये थे, याद है क्या, जिस समय वहाँ 'मान' सम्मान पाके
खाने को थे न बैठे मिल कर उनके साथ में आप आके
वे ही ऐसी दशा में हँस कर कहिए, आपसे क्या कहेंगे
अच्छी हैं ये व्यथाएँ, पर वह हँसना आप कैसे सहेंगे

है जो आपत्ति आगे वह अटल नहीं, शीघ्र ही नष्ट होगी
कीर्त्ति-श्री आपकी यों प्रलय तक सदा और सुस्पष्ट होगी
घेरे क्या व्योम में है अविरत रहती सोम को मेघ-माला
होता है अन्त में क्या प्रकट वह नहीं और भी कान्तिवाला

है सच्ची धीरता का समय बस यही हे महा धैर्य्यशाली !
क्या विद्युद्वन्हि का भी कुछ कर सकती वृष्टिधारा-प्रणाली ?
हों भी तो आपदाएँ अधिक अशुभ हैं क्या पराधीनता से ?
वृक्षों जैसा झुकेगा अनिल-निकट क्या शैल भी दीनता से ?

ऊँघे हैं और हिन्दू, अकबर-तम की है महाराजधानी;
देखी है आप में ही सहज सजगता हे स्वधर्माभिमानी !
सोता है देश सारा यवन नृपति का ओढ़ के एक वस्त्र,
ऐसे में दे रहे हैं जग कर पहरा आप ही सिद्धशस्त्र ॥

डूबे हैं वीर सारे अकबर-बल का सिन्धु ऐसा गभीर,
रक्खे हैं नीर नीचे कमल-सम वहाँ आप ही एक धीर।
फूलों-सा चूस डाला अकबर-अलि ने देश है ठौर ठौर,
चम्पा-सी लाज रक्खी अविकृत अपनी धन्य मेवाड़-मौर !

सारे राजा झुके हैं जब अकबर के तेज-आगे सभीत,
ऊँची ग्रीवा किये हैं सतत तब वहाँ आप ही हे विनीत !
आर्य्यों का मान रक्खा, दुख सह कर भी है प्रतिज्ञा न टाली,
पाया है आपने ही विदित भुवन में नाम आर्यांशुमाली ॥

गाते हैं आपका ही सुयश कवि-कृती छोड़ के और गाना ;
वीरों की वीरता को सु-वर मिल गया चेतकारूढ़ राना ।
माँ ! है जैसा प्रताप प्रिय सुत जन तू तो तुझे धन्य मानें ;
सोता भी चौंकता है अकबर जिससे साँप हो ज्यों सिरानें ॥

"राना ऐसा लिखेंगे, यह अघटित है, की किसी ने हँसी है ;
मानी हैं एक ही वे, बस नस नस में धीरता ही धँसी है ।"
यों ही मैंने सभा में कुछ अकबर की वृत्ति है आज फेरी ;
रक्खो चाहे न रक्खो अब सब विध है आपको लाज मेरी ॥

हो लक्ष्यभ्रष्ट चाहे कुछ, पर अब भी तीर है हाथ ही में,
होगा हे वीर ! पीछे विफल सँभलना, सोचिए आप जी में ।
आत्मा से पूछ लीजे कि इस विषय में आपका धर्म क्या है ;
होने से मर्म-पीड़ा समझ न पड़ता कर्म-दुष्कर्म क्या है ॥

क्या पश्चात्ताप पीछे न इस विषय में आप ही आप होगा ?
मेरी तो धारणा है कि इस समय भी आपको ताप होगा ।
क्या मेरी धारणा को कह निज मुख से आप सच्चा करेंगे ।
या पक्के स्वर्ण को भी सचमुच अब से ताप कच्चा करेंगे ?

जो हो, ऐसा न हो जो हँस कर मन में 'मान' आनन्द पावें ;
जीना है क्या सदा को फिर अपयश की ओर क्यों आप जावें ?
पृथ्वी में हो रहा है सिर पर सबके मृत्यु का नित्य नृत्य ;
क्या जानें, ताल टूटे किस पर उसकी, कीजिए कीर्ति-कृत्य ॥

हे राजन्, आपको क्या यह विदित नहीं, आप हैं कौन व्यक्ति ?
होने दीजे न हा ! हा ! शुचितर अपने चित्त में यों विरक्ति।
आर्यों को प्राप्त होगी, स्मरण कर सदा आपका, आत्मशक्ति ;
रक्खेंगे आप में वे सतत हृदय से देव की भाँति भक्ति।

शूरों के आप स्वामी यदि अकबर की वश्यता मान लेंगे,
तो दाता दान देना तज कर उलटा आप ही दान लेंगे।
सोवेंगे आप भी क्या इस अशुभमयी घोर काली निशा में ?
होगा क्या अंशुमाली समुदित अब से अस्तवाली दिशा में ?

दो बातें पूछता हूँ, अब अधिक नहीं, हे प्रतापी प्रताप !
आज्ञा हो, क्या कहेंगे अब अकबर को तुर्क या शाह आप ?
आज्ञा दीजे मुझे जो उचित समझिए, प्रार्थना है प्रकाश—
मूँछें ऊँची करूँ या सिर पर पटकूँ हाथ हो के हताश ?

नकली किला

आज भी चित्तौर का सुन नाम कुछ जादू भरा,
चमक जाती चञ्चला-सी चित्त में करके त्वरा।
जिस समय लाखा नृपति सिंहासनस्थित थे वहाँ,
उस समय की यह विकट घटना प्रकट देखो यहाँ॥

एक बार अमर्ष पूर्वक तप्त होकर त्वेष से,—
प्रण किया ऐसा उन्होंने एक हेतु विशेष से—
"दुर्ग बूँदी का स्वयं तोड़े विना ही अब कहीं—
ग्रहण जो मैं अन्न या जल करूँ तो क्षत्रिय नहीं॥"

कर दिया प्रण तो उन्होंने क्रोध में ऐसा कड़ा,
किन्तु बूँदी-दुर्ग का था तोड़ना दुष्कर बड़ा।
इसलिए उनके शुभैषी सचिव चिन्ता में पड़े,
रह गये चित्रस्थ-से वे चकित ज्यों के त्यों खड़े॥

सोच एक उपाय फिर वे निज विवेक विचार से,
विनय राना से लगे करने अनेक प्रकार से।
देख सकते हैं अशुभ क्या स्वामि का सेवक कभी ?
हों न हों कृत-कार्य तो भी यत्न करते हैं सभी॥

"वीरवर्योचित हुआ यह प्रण यदपि श्रीमान का,
काम है यह योग्य ही श्रीराम की सन्तान का।
वैर-शुद्धि किये विना वर वीर रह सकते नहीं,
स्वाभिमानी जन कभी अपमान सह सकते नहीं॥

दुर्ग-बूँदी का यदपि हमको प्रथम है तोड़ना,
किन्तु कैसे हो सकेगा अन्न-जल का छोड़ना ?
खान-पान विना किसी के प्राण रह सकते नहीं,
प्राण जाने पर भला प्रण पूर्ण हो सकता कहीं ?

प्रेरणा करती प्रकृति जिस कार्य्य के व्यापार में,
त्राण हो सकता नहीं उसके विना संसार में।
नित्य-कृत्य न छोड़ कर आज्ञा हमें दीजे अतः,
भृत्य ही हैं किसलिए जो श्रम करे स्वामी स्वतः॥

इष्ट-सिद्धि कहाँ रही फिर जब न साधन ही रहा,
कार्य्य करना भूप का आदेश देना ही कहा।
हो गया पूरा उसी क्षण आपका यह प्रण नया,
कह दिया जो सज्जनों ने जान लो वह हो गया॥

हो प्रथम प्रस्तुत हमें चलना यहाँ से दूर है,
पहुँच कर बूँदी पुनः करना समर भरपूर है।
तब कहीं अवसर किले के तोड़ने का आयगा,
काम क्या तब तक भला भोजन विना चल जायगा?

दिन लगेंगे क्या न कुछ भी इस कठिनतर काम में?
कौन जाने काल कितना नष्ट हो संग्राम में?
तोड़ने देंगे हमें क्या दुर्ग शत्रु विना लड़े?
देख सकता कौन अपना सर्वनाश खड़े खड़े?

अस्तु, कृत्रिम दुर्ग तब तक तोड़ बूँदी का यहीं,
कीजिए निज नियम रक्षा, छोड़िए भोजन नहीं।
देह रक्षा योग्य है निज इष्ट-साधन के लिए;
हैं असम्भव कार्य्य सब तन की विना रक्षा किये॥

दुर्ग को जो तोड़ने का आपने प्रण है किया,
हो सकेगी क्या कभी तनु के विना उसकी क्रिया?
इसलिए तब तक उचित है नियम पालन विधि यही,
तनु रहे, साधन सफल हो, विज्ञता बस है वही॥

अन्न जल के छोड़ने की आपकी सुन कर कथा,
तज न देंगे अन्न जल क्या अन्य जन भी सर्वथा?
यह महान अनिष्ट होगा जानिए निश्चय इसे,
त्याग दें जो आप तो फिर ग्राह्य हो भोजन किसे?"

युक्ति से समझा बुझा कर मन्त्रियों ने भूप को,
तोड़ना निश्चित किया उस दुर्ग के प्रतिरूप को।
अस्तु बूँदी दुर्ग कृत्रिम शीघ्र बनवाया गया,
मच गया चित्तौर में तब एक आन्दोलन नया॥

उस समय बूँदी-निवासी भृत्य राना का भला,
वीर हाड़ा कुम्भ था आखेट से आता चला।
साथियों के सहित जब आया वहाँ पर वह कृती,
देख उसको भी पड़ी उस दुर्ग की वह प्रतिकृती॥

तब कुतूहल-वश लगा वह पूछने कारण सही,
किन्तु उसके जानने पर पूर्व-सी न दशा रही।
हो गया गम्भीर मुख, सम्पूर्ण आतुरता गई,
भृकुटि-कुञ्चित भाल पर प्रकटी प्रभा तेजोमयी॥

वीर कुम्भ न सह सका यह मातृभूमि-तिरस्क्रिया,
क्षत्रियोचित धर्म्म ने उसको विमोहित कर दिया।
यदपि कृत्रिम, किन्तु वह भव-भूमि ही तो थी अहो!
स्वाभिमानी जन उसे फिर भूलता कैसे अहो?

त्याग पादत्राण, रख मारे हुए मृग को वहीं,
सुध रही उस वीर को उस काल अपनी भी नहीं।
वन्दना उस दुर्ग की करने लगा वह भाव से;
शीश पर उसने वहाँ की रज चढ़ाई चाव से॥

शीघ्र रक्त-प्रवाह उसकी देह में होने लगा,
बीज विद्युद्वेग से वीरत्व का बोने लगा।
मातृभूमि-स्नेह-जल निश्चल हृदय धोने लगा,
मान मन को मत्त करके मृत्यु-भय खोने लगा॥

यदपि सर्व शरीर उसका जल रहा था त्वेष से,
किन्तु मौन न रह सका वह भक्ति के उन्मेष से।
उस समय उद्गार सहसा जो निकल उसके पड़े
अर्थ-पूरित रत्न हैं वे शुचि सुवर्णों में, जड़े॥

"पुष्ट हो जिसके अलौकिक अन्न-नीर समीर से,
मैं समर्थ हुआ सभी विध रह विरोग शरीर से।
यदपि कृत्रिम रूप में वह मातृभूमि समक्ष है,
किन्तु लेना योग्य क्या उसका न मुझको पक्ष है?

जन्मदात्री, धात्रि! तुझसे उऋण अब होना मुझे,
कौन मेरे प्राण रहते देख सकता है तुझे?
मैं रहूँ चाहे जहाँ, हूँ किन्तु तेरा ही सदा,
फिर भला कैसे न रक्खूँ ध्यान तेरा सर्वदा?

यदपि मेरा काल अब मेरे निकट आता चला,
किन्तु जीने की अपेक्षा मान पर मरना भला।
जब कि एक न एक दिन मरना सभी को है यहाँ,
फिर मुझे अवसर मिलेगा आज के जैसा कहाँ?"

जानुओं को टेक तब वह प्रेम अद्‌भुत में पगा,
देव-सम उस दुर्ग की रक्षा वहाँ करने लगा।
देख कर उस काल उसको जान पड़ता था यही—
मूर्तिमान महत्व से मण्डित हुई मानों मही॥

वध किया मृग पास रक्खे, धनुष धारे धीर ज्यों,
दुर्ग के द्वारे सजग, शोभित हुआ वह वीर यों।—
लौट कर आखेट से निज मान मद में मोहता—
गिरि-गुहा-द्वारस्थ ज्यों निर्भय मृगाधिप सोहता॥

वीर कुम्भ इसी तरह निश्चल वहाँ बैठा रहा,
शुद्ध साधन सिद्धि की सम्प्राप्ति में पैठा रहा।
तब प्रतिज्ञा पालने को शस्त्र लेकर हाथ में,
आ गये राना वहाँ कुछ सैनिकों के साथ में॥

देखते ही कुम्भ उनको, धनुष पर रख शर कड़ा,
सहचरों के सहित उठकर हो गया रण को खड़ा।
उस समय उसकी रुचिरता देखने ही योग्य थी,
शील-युत हठ-पूर्ण थिरता देखने ही योग्य थी॥

दुर्ग के नाशार्थ ज्यों ज्यों वे निकट आने लगे,
भाव त्यों त्यों कुम्भ के अत्युन्नता पाने लगे।
क्रोध से उसके वदन पर स्वेद - जल बहने लगा,
पोंछ कर उसको अतः वह यों वचन कहने लगा—

"सावधान! यहाँ न आना, दूर ही रहना वहीं,
देखना, निज बाण मुझको छोड़ना न पड़े कहीं।
भृत्य होने से तुम्हारा मैं जताने को रहा,
अन्यथा कब का यहाँ पर दीखता शोणित बहा!

प्राण बेचे हैं तुम्हें बेचा न मैंने मान है,
धर्म के सम्बन्ध में नृप और रङ्क समान है।
बन्धु भी अवहेलना करने तुम्हारी जो चले,
क्षोभ से तो क्या तुम्हारा उर न उस पर भी जले?

स्वर्ग से भी श्रेष्ठ जननी जन्म - भूमि कही गई,
सेवनीया है सभीकी वह महा महिमामयी।
फिर अनादर क्या उसीका मैं खड़ा देखा करूँ?
भीरु हूँ क्या मैं अहो! जो मृत्यु से मन में डरूँ?

तोड़ने दूँ क्या इसे नकली किला मैं मानके,
पूजते हैं भक्त क्या प्रभु - मूर्ति को जड़ जान के?
भ्रान्त जन उसको भले ही जड़ कहें अज्ञान से,
देखते भगवान को धीमान उसमें ध्यान से॥

है न कुछ चितौर यह, बूँदी इसे अब मानिए,
मातृभूमि पवित्र मेरी पूजनीया जानिए।
कौन मेरे देखते फिर नष्ट कर सकता इसे?
मृत्यु माता की जगत में सह्य हो सकती किसे?

योग्य क्या सीसोदियों को इस तरह प्रण-पालना?
है भला क्या सत्य का संहार यों कर डालना!
सरल इससे तो यही थी साध लेनी साधना,
तोड़ लेते चित्त ही में दुर्ग बूँदी का बना!

अन्त में फिर मैं यही कहता तुम्हें प्रभु जान के,
लौट जाओ तुम यहाँ से बात मेरी मान के।
अन्यथा फिर मैं न जानूँ, दोष मत देना मुझे,
प्राण-नाशक बाण मेरे हैं विषम विष में बुझे॥"

यों वचन सुन कुम्भ के विस्मित हुए राना बड़े,
बढ़ सके आगे न सहसा रह गये रुक कर खड़े।
ग्लानि, लज्जा, क्रोध आदिक भाव बहु मन में जगे,
किन्तु वे इस भाँति फिर उत्तर उसे देने लगे—

"वीर कुम्भ ! विचार ऊँचे हैं तुम्हारे सर्वथा,
किन्तु दोषारोप अब मुझ पर तुम्हारा है वृथा !
वीर बूँदी के स्वयं मौजूद हो जब तुम यहाँ,
फिर कहो, प्रण - पालना झूठा रहा मेरा कहाँ ?"

क्रुद्ध हो तब कुम्भ ने शर से उन्हें उत्तर दिया,
किन्तु राना ने उसे झट ढाल पर ही ले लिया।
फिर वहाँ कुछ देर को पूरी लड़ाई मच गई,
वध किये उस वीर ने मरते हुए भी रिपु कई॥

उष्ण शोणित-धार से धरणी वहाँ की धो गई,
कुम्भ के इस कृत्य से कृतकृत्य बूँदी हो गई।
इस तरह उस वीर ने प्रस्थान सुरपुर को किया,
राजपूतों की धरा को कीर्तिधवलित कर दिया॥

१९६७ वि०

निन्नानवे का फेर

एक सुन्दर ग्राम में था वैश्य एक धनी कहीं,
पास उसके एक शिल्पी वास करता था वहीं।
भोगते थे एक-सा सुख-भोग दोनों सर्वदा,
था धनी शिल्पी न तो भी मुदित रहता था सदा॥

एक दिन उस वैश्य की गृहिणी बड़े आश्चर्य्य से,
यों वचन कहने लगी निज अनुभवी प्रियवर्य्य से—
"कुछ दिनों से एक शंका नाथ, मुझको हो रही,
भेद तुम उसका बताओ सुन कथा मेरी कही॥

यह पड़ोसी जो हमारा विदित नाम सुयोग है,
यदपि है न धनी तदपि नित भोगता बहु भोग है।
प्रभु कृपा से हम धनी हैं और यह धन-हीन है,
तदपि हमसे भी अधिक यह क्यों सतत सुखलीन है?

जब झरोखे से कभी मैं झाँकती उस ओर हूँ,
देख कर पाती न उसके मोद का कुछ छोर हूँ!
रुचिर नाना पाक बनते नित्य उसके गेह में,
श्रेष्ठ पट पति और पत्नी पहनते हैं देह में॥

सुरभि सुन्दर भोजनों की फैलती सब ओर है,
नित्य सुन पड़ता तथा आनन्द-सूचक शोर है।
बात क्या है सो न कुछ भी समझ में आती कभी,
धन-रहित यह वैतनिक पाता कहाँ से सुख सभी?'

वचन वनिता के श्रवण कर विहँस बोला अर्य्य यों—
"इस जरा सी बात पर होता तुम्हें आश्चर्य्य क्यों
रोज जो एकाध रुपया यह कमा लाता यहाँ,
शाम को उसको उड़ा कर मत्त हो जाता यहाँ॥

इस समय तो यह तरुण है श्रम नहीं खलता इसे,
किन्तु पूरा कष्ट देगी जरठ-निर्बलता इसे!
प्राप्त होता द्रव्य जो कुछ नित्य यह खोता उसे,
प्रथम जो संग्रह न करता दुःख फिर होता उसे ॥

आय के अनुसार ही व्यय नित्य करना चाहिए,
द्रव्य संग्रह कर समय के अर्थ धरना चाहिए।
नियम यह सम्पत्ति-विषयक याद जो रखता नहीं,
दुःख पाकर लोक-सुख का स्वाद वह चखता नहीं ॥

धन बिना संसार में कुछ काम चल सकता नहीं,
दुःख के दृढ़ जाल से निर्धन निकल सकता नहीं।
हो न सकता धर्म भी धन का बिना संग्रह किये,
नित्य वित्त निमित्त सबको यत्न करना चाहिये ॥

ज्ञात है अज्ञान से कुछ गुण न सञ्चय का इसे,
इस तरह न रहे, नियम जो विदित हो व्यय का इसे।
यदि किसी कारण न यह दस पाँच दिन श्रम कर सके,
और तो क्या, तो उदर भी यह न अपना भर सके ॥

'आज का कल को बचावे वह न पुरुषार्थी कभी,'
इस तरह की समझ उलटी हो रही इसकी अभी।
किन्तु पीछे याद होगा भाव आटे-दाल का,
जब अबल होकर बनेगा कवल काल कराल का॥

आप तो यह विपद में पड़कर मरेगा ही कभी,
पर हुए पुत्रादि तो वे भी दुखी होंगे सभी।
सो जिसे तुमने जगत में सब प्रकार सुखी कहा,
दुःख के गहरे गढ़े में वह अनाड़ी गिर रहा॥"

जान कर परिणाम यों अपने पड़ोसी का बुरा।
वैश्य-वनिता हो गई व्याकुल तथा करुणातुरा।
द्रवित हो जातीं हृदय में तनिक ही में नारियाँ,
चित्त से भी मृदुल होतीं कुलवती सुकुमारियाँ॥

वचन फिर कहने लगी वह इस तरह निज नाथ से—
"कर रहा निश्चय अहित यह आप अपने हाथ से।
शोचनीय भविष्य का इसको न कुछ भी ध्यान है,
सत्य ही होता नहीं केवल गुणी में ज्ञान है॥

याद कर इसकी दशा होता मुझे है दुख बड़ा,
कीजिए कुछ यत्न जो यह मोह में न रहे पड़ा।
क्या किसी विध भूल अपनी ज्ञात हो सकती इसे ?
दूसरों का दुःख हरना है नहीं हितकर किसे ?

हो हमारा द्रव्य भी कुछ व्यय न क्यों इस काम में,
पर न हो प्राणेश ! इसको कष्ट अब परिणाम में।
चार, छै, दस बूँद से घटता नहीं नद - नीर है,
किन्तु दीन विहङ्ग की मिटती तृषा गम्भीर है॥"

मौन होकर वैश्य तब कुछ सोचने मन में लगा,
फिर वचन बोला प्रिया से प्रेम के रस में पगा।
"यत्न सोचा एक मैंने चित्त में इसके लिए,
हो कदाचित सफलता पूरी तरह उसके किये॥"

एक पट में बाँध तब निन्नानवे रुपये लिये,
और कह यों वचन उसने वे प्रिया को दे दिये—
"डाल देना तुम इन्हें उसके सदन में रात को,
है मुझे विश्वास होगी कार्य्य-सिद्धि प्रभात को॥"

वैश्य-वनिता ने बहुत होकर प्रफुल्लित गात में,
फेंक दी वह पोटली उसके यहाँ फिर रात में।
जब सुयोग उठा सबेरे और वे रुपये मिले,
सूर्य्य-दर्शन से कमल-सम प्राण तब उसके खिले॥

किन्तु जब गिन कर उन्हें वह यत्न से रखने लगा,
देखकर निन्नानवे तब मोह से मानों जगा।
"एक रुपया और इनमें मैं मिलाऊँगा अभी,
और कर पूरे इन्हें सौ फिर धरूँगा मैं सभी॥"

सोच कर वह वैतनिक इस भाँति अपने चित्त में,
चार, छै आने सदा रखने लगा निज वित्त में।
और जब सौ होगये तब और भी इच्छा बढ़ी,
मिट गई वह भ्रांति जो थी शीश पर पहले चढ़ी॥

कुछ दिनों में छोड़कर सब धन उड़ाना नित्य का,
द्रव्य-सञ्चय मुख्य समझा लक्ष्य उसने कृत्य का।
नित्य सादी चाल से चलता हुआ संसार में,
बन चला धनवान वह रह लीन निज व्यापार में॥

"क्या, सुरभि सुन्दर भोजनों की" फैलती अब भी सदा ?
हँसकर प्रिया से एक दिन यों वैश्य ने पूछा यदा ।
तब देख उसकी ओर हँस बोली बधू कुछ देर में—
"अब तो पड़ोसी पड़ गया निन्नानवे के फेर में !"

१९६७ वि०

दस्ताने

कहते उस्ताद थे महीप आप जिनसे
भूपति भवानीसिंह दतिया नरेश के
आश्रित पठान एक निज के सिपाही थे।
होकर प्रसन्न एक बार उन्हें राजा ने
बख्श दिये अपने पहनने के सोने के
दस्ताने, सहर्ष चले वे उन्हें पहन के।
किन्तु ज्यों ही निकले वे ड्योढ़ी से कि सामने
मिल गया एक उन्हें ठाकुर दरिद्र-सा,

कुरता फटा-सा एक पहने हुए था जो ,
मैली किन्तु टेढ़ी बँधी सिर पर बत्ती थी ,
नंगे पैर, किन्तु तलवार लिए हाथ में ,
उसने उस्ताद को विलोक कर यों कहा—
"दस्ताने कहाँ से मिले तुमको ये राजों के ?"
बोले वे कि "ठाकुर, ये बख्शे हैं हुजूर ने।"
"पर यह बख्शने की चीज नहीं, राजा भी,
बख्श नहीं सकते हैं शोभा यह राज्य की।
पीढ़ी दर पीढ़ी इन्हें पहनें सवारी में
इतना ही हक रखते हैं इन पर वे।
इससे उतार दो इन्हें, इसीमें है भला !"
ठाकुर की बात सुन बोले वे कि "तुम क्या
कहते हो ? ये तो दिये हमको हैं राजा ने।"
"राजा के भतीजे !"—कहा ठाकुर ने गर्ज के—
कहता हूँ उतार दे, उतारता है या नहीं ?"
ठाकुर ने त्योरियों के साथ तलवार भी
खींच ली तुरन्त और क्रोध कर यों कहा—
"पार कर दूँगा अभी, आतें गिर जायेंगी ;
कहता हूँ फिर भी उतार दे, उतार दे !"

ठाकुर ने तोली तलवार तब अपनी।
भौंचक से होकर उस्ताद जी ने देख के
दस्ताने उतार चुपचाप उन्हें दे दिये।
ठाकुर ने लेकर तुरन्त उन्हें राजा के
सामने जा रक्खा उन्हें देखकर राजा ने
पूछा यों—"सोपतसिंह, पाये कहाँ तुमने ?
हमने उस्ताद को दिये थे यह दस्ताने।"
उत्तर दिया यों तब ठाकुर ने उनको—
"पृथ्वीनाथ, पात्र भी थे वे या नहीं इनके ?
शूरवीर राजों के भूषण ये, हैं नहीं—
योग्य ऐसे वैसों के कि पहने वे इनको।
इनका महत्त्व वे क्या जानें भला, देखिए,
ज्यों ही धमकाया जरा मैंने तलवार से
तत्क्षण उतार दिया भौंचक के भाव से
इनको उन्होंने, जब बख्शे थे हुजूर ने
फिर क्या उतारना था ? मैं ही नहीं वे भी तो
बाँधे तलवार थे, उतारने के पहले
मारना था और मर जाना था उन्हें वहीं।
भीतर खजाने में इनको भिजवाइए

और देना है तो इतना ही या इनसे
दुगना या चौगुना भी सोना उन्हें दीजिए।"
ठाकुर की बातें सुन राजा चुप हो रहे
फिर मुसकाये और बोले प्रेम से कि "तू
पागल है !" इतने में आके चोबदार ने
सूचना दी उनको उस्ताद खड़े द्वारे हैं।
"भेंट नहीं होगी आज," आज्ञा हुई भूप की।

१९७५ वि०

चाण्डाल

हुआ किसी नृप के घर लाल,
तन पर किन्तु रीछ-से बाल!
बोले तब दैवज्ञ विशाल—
"झाड़े कहीं इसे चाण्डाल!"

सुन कर सभी हो गये सन्न;
पर क्या करते नहीं विपन्न?
लेकर उसे नदी के पार,
पहुँचा सचिव श्वपच के द्वार।

परम स्वच्छ था उसका गेह;
अविचल मन था, निर्मल देह।
सुस्थिर मुद्रा से आसीन,
वह था प्रभु-चिन्तन में लीन।

किया नहीं उसने दृक्पात,
कर न सका मन्त्री भी बात।
सोचा किया दृष्टि निज डाल—
"इस जन का क्या है चाण्डाल?

पावे ऐसा द्विज भी ख्याति,
सचमुच आत्मा की क्या जाति?
अपने जल से, ऐसा डोम,
जला सकेगा क्या ये रोम?"

तब तक हो निवृत्त मातङ्ग
बोला बड़े विनय के सङ्ग—
"प्रभु, यह कैसा अचरज आज?
पड़ी कहाँ यह पद-रज आज?

समदर्शी हैं घन, रवि, सोम,
फिर भी यह किङ्कर है डोम।"
कहा सचिव ने तब सस्नेह—
कि "तुम 'महत्तर' निस्सन्देह।

हो शरीर का कोई वंश,
जीव सभी ईश्वर के अंश।
मुझे श्वपच ही से है काम,
आया व्यर्थ तुम्हारे धाम।"

यह कह सचिव चला अन्यत्र,
आतप रोक रहा था छत्र।
पड़ी पुनः सरिता की रेत,
मानों रत्न-कणों का खेत।

उसमें पथिकों का पथ छेक,—
अड़ी खड़ी थी गाड़ी एक।
थक कर बैठ गया था बैल,
रुकी हुई थी सारी गैल।

गाड़ीवान बैल को डाट,—
मुहँ से पूँछ रहा था काट!
काला और कुरूप कराल,
मैले दाँत विलोचन लाल।

फिर भी पहने था उपवीत!
काँप गया नृप-सचिव सभीत।
पुलक उठा फिर उसका गात्र—
देखा जो उसका जल-पात्र।

"इसके जल-स्पर्श से हाल
झड़ जावेंगे शिशु के बाल?"
बोला वह—"भाई, तू कौन?"
पर गाड़ीवाला था मौन।

फिर फिर पूछा—था ही रुष्ट,
गरजा पकड़ जनेऊ दुष्ट;—
"अब भी नहीं गया यह टूट,
गई अरे क्या तेरी फूट?

मैं हूँ कौन ? तुझे क्या काम ?
सुना नहीं बाँमन का नाम ?"
"आहा ! क्या ब्राह्मण हैं आप ?
रहें दयालु, न दें अभिशाप ।

मिले एक अञ्जलि जल मात्र,
खिले सुमन-सा शिशु का गात्र ।"
बोला क्रूर—"जला मत हाड़,
जा, पत्थर पर उसे पछाड़ !

समझ लिया क्या मुझे कहार ?"
रुष्ट हुआ मन्त्री इस बार—।
दिया सेवकों को आदेश—
"पकड़ो इस खल को धर केश ।"

थी बस, आज्ञा की ही देर,
लिया उसे भृत्यों ने घेर ।
मन्त्री ने ले उसका नीर
सींचा शिशु का मृदुल शरीर ।

क्या आश्चर्य हुआ तत्काल,—
झड़े बाल के तनु के बाल !
दमक उठे कुन्दन-से अङ्ग।
उठी हर्ष की एक उमङ्ग।

पहुँचे फिर सब नृप के पास,
वह था आर्त्त, अधीर, उदास।
कहा सचिव ने बढ़ कर क्षिप्र—
"श्वपच नहीं वह था यह विप्र ?

लाया हूँ मैं इसको साथ,
सोच न कीजे हे नरनाथ !"
बोला नृप ज्वर-मुक्त-समान—
"दो इसको मुहँ माँगा दान !"

१९८५ वि०

टाइटानिक की सिन्धु-समाधि

सौ योजन पुल बाँध जिन्होंने
थल-सम किया जलधि को पार,
भारत की लक्ष्मी-स्वरूपिणी
जनक-सुता को लिया उबार।
नररूपी उन परमेश्वर का
राम-नाम भज बारम्बार,
आओ, पाठक! विपद्-काल में
देखें वीरों के व्यवहार।

ऊपर नील नभोमंडल है,
नीचे क्षार समुद्र अपार,
दोनों में अपूर्व समता है
दोनों का अद्भुत व्यापार।
किन्तु सिन्धु-गाम्भीर्य देख कर
नैश गगन चंचल है आज,
प्रतिविम्बित होकर पानी में
कम्पित है नक्षत्र-समाज!

ऐसे में यह धीर भाव से
कौन अपूर्व पर्वताकार—
नभ में मेघ-समान सिन्धु की
छाती पर कर रहा विहार।
सुनो, सुनो, मानों उसमें से
निकल रही यह ध्वनि गम्भीर,—
"हटो, टाइटानिक आता है
हे समीर! हे सागर-नीर!"

मन्द वायु से हिलता - डुलता
गर्वित-सा है सिन्धु अथाह,
किन्तु टाइटानिक जहाज को।
जरा नहीं उसकी परवाह
पाल नहीं, मस्तूल नहीं निज
कीर्ति - केतु-पट कर उड्डीन,
चीड़ - फाड़कर सिन्धु - नीर को
चला जा रहा है स्वाधीन।

जगती के जलयानों में है
आज टाइटानिक सिरमौर,
इस नव युग में बना कहीं भी
ऐसा श्रेष्ठ जहाज न और।
विश्व - विदित इँगलैंड देश की
कला - कुशलता का परिणाम,
है जहाज, या सभ्य - जगत का
है यह एक मनोहर ग्राम!

ग्रन्थागार, वाचनालय हैं,
बने कहीं क्रीड़ा के स्थान,
कहीं सरोवर, कहीं नाट्यगृह
और कहीं सुन्दर उद्यान।
यह जहाज जिसमें आ सकते
यात्री साढ़े तीन हजार—
निकल पड़ा मानों पन्द्रहवाँ
रत्न सिन्धु से शोभागार!

कर,-मुख,-निधि-भू *संख्यक सन् की
चौदहवीं एप्रिल है आज,
परसों चला विलायत से है
यह प्रासाद-समान जहाज।
यात्रीजन पँचगुने पाँच सौ,
हैं जिनमें बहु नर-कुल-केतु,
आरोही हैं इस पर सुख से
अमरीका जाने के हेतु।

* १९१२

कहीं कहीं सोते हैं यात्री,
कहीं कहीं पुस्तक का पाठ,
कहीं हास - परिहास हो रहा,
कहीं खेल - क्रीड़ा का ठाठ।
कहीं प्रिया के सङ्ग मुदित मन
करते प्रेमी प्रेमालाप,
फैला है अति अचल भाव से
चारु चञ्चलालोक - कलाप।

अटलांटिक सागर की शोभा
देख रहा है कोई वीर,
जा सकती है दृष्टि जहाँ तक
भरा हुआ है केवल नीर।
अहा! वेष्टनी दण्ड धरे वह
कौन युवक करता है गान—
"शासन कर सागर लहरों पर
मेरे वीर ब्रिटेन महान!"

यह क्या, यह क्या हुआ अचानक
धक्के पर धक्के का जोर,
होने लगा यहाँ सहसा क्यों
भय-सूचक घंटे का शोर!
चारों ओर हुआ कोलाहल
हाय! हाय! क्या होगा आज,
हिम की शैलाकार शिला से
टकरा कर फट गया जहाज!

एक साथ आसन्न-मृत्यु का
देखा सबने दृश्य समक्ष,
नभ में भंगपक्ष-पक्षी-से
लगे धड़कने सबके वक्ष।
यह जहाज भी डूब जायगा,
कौन जानता था यह बात!
यह यात्रा अन्तिम यात्रा है,
था किस यात्री को यह ज्ञात!

ऐसे समय सोच के बदले
है धीरज ही में कल्याण,
इस कारण सब लगे सोचने
कैसे बच सकते हैं प्राण।
नावें इतनी नहीं कि सबकी
रक्षा का हो सके उपाय,
कौन मरेगा, कौन बचेगा ?
कैसा कठिन प्रश्न है हाय !

तत्क्षण एक वीर-कण्ठ-स्वर
धीर भाव से हुआ प्रमाण—
"पीछे हटें पुरुष, हो पहले
स्त्रियों और बच्चों का त्राण।"
कप्तान स्मिथ की आज्ञा से
पीछे हटे धन्य सब धीर,
हैं जिनमें आस्टर से धनपति
तथा स्टेड से नैतिक वीर।

हाय ! दृश्य आगे का अब वह
है करुणा का पूर्ण प्रपात,
पति-पत्नी का, पिता-पुत्र का,
है जिसमें अन्तिम साक्षात्।
आग्रह के वश अबलाओं का
वह रोते-रोते प्रस्थान,
है प्रत्यक्ष कि स्वप्न, हाय ! कुछ
समझ नहीं पड़ता भगवान !

कितनी ही महिलाएँ अपने
पतियों का तज सकीं न साथ,—
बोलीं लिपट कण्ठ से उनके
"साथ मरेंगीं हम हे नाथ !"
"प्रिये ! धैर्य धर जियो हाय ! तुम
देखो सुत के मुख की ओर,"
रोई यों सुन कोई पत्नी,
शोक-सिन्धु में उठी हिलोर ॥

हुए व्यग्र भी कितने ही जन
प्राण बचाने को उस काल,
किन्तु वीर-सिंहों के वन में
होते हैं क्या नहीं शृगाल?
जो हो, कर्णधार की वाणी
सुनी गई फिर यों गम्भीर—
"छी! छी! सच्चे वृटिश बनो रे,
मरो भले ही, न हो अधीर।"

ऐसी गड़बड़ में भी भीतर
निश्चल है वह नरवर कौन?
अहो युवक! तुम सर्वनाश के
समय यहाँ बैठे हो मौन!
वीर फिलिप निज सोच न करके
तार भेजने में है लग्न—
"दौड़ो, चलो, बचाओ, आओ,
हुआ टाइटानिक जल-मग्न!"

देखो, एक मनुज वह जल में
तैर रहा है किसी प्रकार,
कुछ नौकारोही जन उसका
करने जाते हैं उद्धार।
किन्तु सुनो वह क्या कहता है
"नौका सह न सकेगी भार—
प्राण बचाओ, जाओ तुम सब
है मुझको मरना स्वीकार।"

औरों की रक्षा करके यों
मर सकती जिसकी सन्तान,
क्यों न भला वह देश जगत में
हो सम्मानित और महान?
प्राण बचाने को औरों के
तज सकता है जो निज देह,
जितना गौरव प्राप्त करे वह
है थोड़ा ही निस्सन्देह।

आये नहीं आठ सौ जन भी
नौकाएँ भर गईं तमाम,
सोलह सौ यात्री निर्भय हो
मर कर अमर कर गये नाम।
वह मरना भी दर्शनीय है,
है सजीवता का वह चित्र,
उस स्वर्गीय भाव को भाषा
प्रकट करेगी कैसे मित्र!

वह देखो, आस्टर-से धनपति,
तथा स्टेड-से नैतिक वीर—
एक एक सामान्य मनुज की
रक्षा कर तज रहे शरीर!
वह देखो, वीरों की श्रेणी
करके आत्मत्याग पुनीत,
धन्य मृत्यु को भेट रही है
बैण्ड बजा कर, गाकर गीत!

गीत

"मृत्यु ! मृत्यु ! आ जा, आ जा, तू,
स्वागत करते हैं हम लोग,
बड़े भाग्य से मिल सकता है
ऐसे गौरव का संयोग।
तू तो केवल नियति मात्र है
फिर तुझसे भय का क्या काम ?
हम अपना कर्तव्य कर चुके,
लेते हैं अब चिर-विश्राम।
हँसते हँसते स्वर्ग-धाम में
भोगेंगे दुर्लभ सुख-भोग,
मृत्यु ! मृत्यु ! आ जा, आ जा, तू,
स्वागत करते हैं हम लोग !

बृटिश-जाति मरने से डरती
तो क्या कर सकती कुछ काम ?
सिंह-उपाधि-युक्त पृथ्वी पर
हो सकता क्या उसका नाम ?

मृत्यु ! न डर कर ही तुझसे हम
यह उन्नति कर सके समस्त—
बृटिश-राज्य में आज देख लो,
सूर्य्य नहीं हो सकता अस्त !
यह तो होता ही रहता है
नश्वर तनु का योग - वियोग,
मृत्यु ! मृत्यु ! आ जा, आ जा, तू,
स्वागत करते हैं हम लोग !

वे जग को चौंकाने वाले
अद्भुत अद्भुत आविष्कार,
वह वैज्ञानिक वृद्धि कि जिससे
होता है अपूर्व उपकार।
वे यन्त्रादि वाष्प - विद्युन्मय,
वे वाहन, वे व्योम - विमान,
प्रकटित कर सकते हम कैसे
करते जो न आत्म - बलि - दान ?

हम मर जायँ परन्तु हमारे
अजर अमर हैं सब उद्योग,
मृत्यु! मृत्यु! आ जा, आ जा, तू,
स्वागत करते हैं हम लोग!

हे करुणावरुणालय प्रभुवर!
विश्वमूर्ति, विश्वम्भर, ईश!
नाथ! तुम्हारे पद - पद्मों में
अर्पण करते हैं हम शीश।
देव! विनय स्वीकृत कर लीजे,
कीजे निज सामीप्य प्रदान,
परम पिता हैं आप हमारे,
दीजे आत्म - शक्ति भगवान!
शान्तिमयी यह मृत्यु हमारे
दूर करे सारे भव - रोग,
मृत्यु! मृत्यु! आ जा, आ जा, तू,
स्वागत करते हैं हम लोग!"

× × × ×

अहा ! शब्द - सागर में डूबा
अब्धि और आकाश महान,
हुआ साथ ही मग्न सिन्धु में
भग्न टाइटानिक जल - यान !
हुए आज निर्वाण भले ही
वे बहु जीवन - दीप अनित्य,
उदित हुआ आदर्श नाम का
जग में एक नया आदित्य।

वीरो ! हम विदेशवासी भी
देते तुम्हें अश्रु - जल - दान,
धन्य धैर्यमय त्याग तुम्हारा,
तुम्हें शान्ति देवें भगवान !
मिलती नहीं महत्व - प्रदर्शक
आज तुम्हारे योग्य उपाधि,
प्रलय-काल में भी न मिटेगी
धन्य तुम्हारी सिन्धु-समाधि !

× × × ×

हाय ! आज इस दुर्घटना पर
हो कर करुणा का उद्रेक—
तेरह सौ वत्सर पहले की
याद आ गई घटना एक।
भारतवर्ष तीर्थ को आते
बौद्ध भिक्षुओं ने उस वार—
ली समाधि थी वङ्ग-सिन्धु में
करके औरों का उद्धार।

भग्न हुई ज्यों ही वह तरणी
पाकर शिखराघात कठोर—
दैवयोग से एक दूसरी
नौका आ पहुँची उस ओर।
करना चाहा उसने पहले
बौद्ध भिक्षुओं का उद्धार,
किन्तु उन्होंने पहले अपना
बचना नहीं किया स्वीकार।

अन्य जनों का त्राण हुआ पर
रहा तरी में स्थान न शेष,
बौद्ध भिक्षुओं ने तब अपनी
देकर सामग्री निःशेष।
बोधि-द्रुम-तल में उस सबके
अर्पण का करके उपदेश,—
ली समाधि "अमिताभ" पाठ कर
सफल किया जीवन उद्देश।

बौद्ध भिक्षुओं की वह वाणी
अब भी मुग्ध कर रही प्राण—
"सम्भव नहीं बौद्ध होकर जो
करें प्रथम हम अपना त्राण।
हमें अपेक्षा करनी होगी,
बुद्धदेव की है यह उक्ति—
कब तक? जब तक तुच्छ कीट तक
पा न सकें पृथ्वी पर मुक्ति!"

१९६९ वि०

क्षार-पारावार

छोड़ मर्यादा न अपनी, वीर, धीरज धार,
क्षुब्ध - पारावार, मेरे क्षार - परावार!

रोक सकता है तुझे क्या मृत्तिका का तीर?
थाम अपने आपको तू, ओ अतल - गम्भीर!
व्यर्थ मटमैला न हो वह नील - निर्मल-नीर,
ताप - दुःशासन - दलित भू - द्रौपदी का चीर।
सुन, अमर्यादा प्रलय का खोल देगी द्वार,
क्षुब्ध - पारावार मेरे क्षार - पारावार!

ये गले, पिघले हुए पर्वत - सदृश कल्लोल,
ग्रास करने जा रहे हैं, कह किसे मुँह खोल?
ये सलिल-वातूल अपने तनिक तू ही तोल,
वेग वह वेला वराकी सह सकेगी, बोल?
धीर, अपने ही हिये पर झेल उनका भार,
क्षुब्ध - पारावार, मेरे क्षार - पारावार!

हाय! जल में भी जले जो, एक ऐसी आग,
जान ले तब प्राकृतिक है यह प्रबल उपराग।
उचित ही यह उफनना, यह हाँपना, ये झाग,
पर ठहर प्रभविष्णु, तू, न सहिष्णुता को त्याग।
काट दे बन्धन सहित सब कुछ न तेरी धार,
क्षुब्ध - पारावार, मेरे क्षार - परावार!

मथित है, हृतरत्न है, फिर भी नहीं तू दीन,
देव-कार्य-निमित्त था वह योग एक नवीन।
पूछ देख, अनन्त - कवि तेरे हृदय में लीन,
अचल-सा वह विश्व है तुच्छातितुच्छ विहीन।
तू बड़े से भी बड़ा, उस त्याग को स्वीकार,
क्षुब्ध - पारावार, मेरे क्षार - पारावार!

क्या अमृत के अर्थ है यह भीम तेरा नाद ?
तो गरल भी तो गया, फिर कौन हर्ष-विषाद ?
जानते हैं जलद तेरे क्षार-जल का स्वाद,
और जगती को जनाते हैं सदा साह्लाद।
ओ मधुर-लावण्यमय, तू छोड़ क्षोभ-विकार,
क्षुब्ध - पारावार, मेरे क्षार - पारावार !

विकल है यदि तू, दिवंगत देख मंजु-मयंक,
तो निरख, उसको मिला है अचल-ऊँचा अंक।
इष्ट सबका एक-सा वह, राव हो या रंक,
वह वहीं कृतकृत्य है, रह तू यहाँ निःशंक।
देखकर सद्गति किसीकी उचित क्या चीत्कार,
क्षुब्ध - पारावार, मेरे क्षार - पारावार !

रस हमीं हममें यहाँ बस, ठीक है यह बात,
किन्तु रक्खे एक सीमा सौम्य, तेरा गात।
अखिल में अनुभूति अपनी प्राप्त तुझको तात,
सरस है सारी रसा पाकर सलिल-संघात।
मिल हुआ दिव भी तुझीमें दूर एकाकार,
क्षुब्ध - पारावार, मेरे क्षार - पारावार !

वस्तुतः यह क्षोभ तेरा, या अतुल उल्लास !
हाय ! उपजाती बड़ों की मौज भी है त्रास।
सह्य तेजोमय किसे रवि का अखण्ड - विकास ?
और भोलानाथ हर का हास-ताण्डव-रास ?
ध्वंस के ही साथ क्या निर्माण का व्यवहार ?
क्षुब्ध - पारावार, मेरे क्षार - पारावावार !

शान्त, ओ गम्भीर, ओ उत्ताल, जल - जंजाल ,
व्योम तेरी ऊर्मि में, आवर्त्त में पाताल।
व्यथित, तेरे बाष्प की रस-वृष्टि ही चिरकाल ,
है हरा रखती धरा को, दे सुमुक्ता - माल !
एक तेरे अंक में है यान - गत संसार ,
क्षुब्ध - पारावार, मेरे क्षार - पारावार !

देख अपनी ओर तू, ओ घोर - सुन्दर, सार ,
लाख रत्नों से भरे तेरे धरे भाण्डार ,
लाख लहरों का सदा तुझमें रहे संचार ,
लाख धाराएँ करें तेरे लिए अभिसार।
साख एक बनी रहे, बन्धन नहीं, वह हार ,
क्षुब्ध - पारावार, मेरे क्षार - पारावार !

नक्षत्र-निपात

जो स्वजनों के बीच चमकता था अभी,
आशा-पूर्वक जिसे देखते थे सभी।
होने को था अभी बहुत कुछ जो बड़ा,
हाय! वही नक्षत्र अचानक खस पड़ा।
निशि का सारा शान्त भाव हत हो गया;
नभ के उर का एक रत्न-सा खो गया।
आभा उसके अमल अन्तिमालोक की;
रेखा सी कर गई हृदय पर शोक की!
सारे तारे उसे देखते ही रहे;
हिम-कण-रूपी कोटि कोटि आँसू बहे।
किन्तु न उसको बचा सका फिर इन्दु भी;
काम न कुछ कर सके अमृत के विन्दु भी।
भूतल का भी इसी तरह का हाल है—
सचमुच निष्ठुर काल बड़ा विकराल है।

पुष्पाञ्जलि

मेरे आँगन का एक फूल !

सौभाग्य-भाव से मिला हुआ ,
श्वासोच्छ्वासों से हिला हुआ ,
संसार-विटपि में खिला हुआ ,

झड़ पड़ा अचानक झूल झूल ;
मेरे आँगन का एक फूल !

ऊषा ने अपना उदय किया,
दीपक ने निज निर्वाण लिया,
मुझको मारुत ने जगा दिया,

देखा कि दे गया हृदय-शूल;
मेरे आँगन का एक फूल!

वह रूप कहाँ, वह रङ्ग कहाँ,
हिलने-डुलने का ढङ्ग कहाँ,
हो गया हरे! रस भङ्ग यहाँ,

उड़ गई गन्ध की हाय! धूल;
मेरे आँगन का एक फूल!

करता समीर था साँयँ साँयँ,
भूतल लगता था भाँयँ भाँयँ,
बकता था मैं भी आँयँ बाँयँ,

दिखलाई देता था न कूल;
मेरे आँगन का एक फूल!

पुष्पाञ्जलि

मेरे आँगन का एक फूल !

सौभाग्य-भाव से मिला हुआ ,
श्वासोच्छ्वासों से हिला हुआ ,
संसार-विटपि में खिला हुआ ,

झड़ पड़ा अचानक झूल झूल ;
मेरे आँगन का एक फूल !

ऊषा ने अपना उदय किया ,
दीपक ने निज निर्वाण लिया ,
मुझको मारुत ने जगा दिया ,

देखा कि दे गया हृदय-शूल ;
मेरे आँगन का एक फूल !

वह रूप कहाँ, वह रङ्ग कहाँ ,
हिलने-डुलने का ढङ्ग कहाँ ,
हो गया हरे ! रस भङ्ग यहाँ ,

उड़ गई गन्ध की हाय ! धूल ;
मेरे आँगन का एक फूल !

करता समीर था साँयँ साँयँ ,
भूतल लगता था भाँयँ भाँयँ ,
बकता था मैं भी आँयँ बाँयँ ,

दिखलाई देता था न कूल ;
मेरे आँगन का एक फूल !

आये इतने में श्रीनिवास,
था उसी फूल-सा मन्द हास,
बोले—उसमें था स्वर्ग-वास,

वह गई, सूक्ष्म था, रहा स्थूल;
मेरे आँगन का एक फूल!

बोला तब मैं हे राज-राज!
क्या है इसके अतिरिक्त आज,
जिसकी अञ्जलि दूँ तुम्हें साज,

लो इसको भी सब दोष भूल;
मेरे आँगन का एक फूल!

१९७३ वि०

झंकार

गूँज रही अब भी झंकार।

होकर भी क्रम क्रम से मन्द,
उड़ी जा रही है स्वच्छन्द,
मृदुल पवन पर है मृदु भार।
गूँज रही अब भी झंकार।

किधर गई वह देखो घूर,
सुन पड़ती है दूर—सुदूर,
करती हुई शून्य को पार।
गूँज रही अब भी झंकार।

लय हो गई प्रलय में लीन,
पड़ी मूर्च्छना मूर्च्छित दीन,
तजा काल ने ताल-विचार।
गूँज रही अब भी झंकार।

धम से गिरी गमक पर गाज,
कसकी मींड़-मसक वह आज,
उड़ी कणों की क्षण में छार।
गूँज रही अब भी झंकार।

टूटी तान आप पर आप,
करो भले ही अब अनुताप,
टूट गया तंत्री का तार।
गूँज रही अब भी झंकार।

१९८३ वि०

कीर

किधर उड़ गया, बता दो वीर !
किसीने देखा मेरा कीर ?

अभागा वह असहाय अनाथ ,
पड़ा हो कहीं किसीके हाथ ,
मुझे दे दो साहस के साथ ,

तोल कर ले लो हाटक - हीर ।
किसीने देखा मेरा कीर ?

देह थी हरी-भरी सुकुमार ,
गले में एक अरुण गुण-हार ,
चंचु पुट पल्लव सहज सुढार ,

गिरा पर गद्गद थे सब धीर ।
किसीने देखा मेरा कीर ?

ग्राम-वन छान चुकी हूँ हाय ,
कहाँ जाऊँ अब मैं असहाय ,
बतादो कोई मुझे उपाय ,

करूँ मैं आज कौन तदवीर ।
किसीने देखा मेरा कीर ?

दुःख होता है दूना आज ,
कहाँ वह एक नमूना आज ,
पड़ा है पंजर सूना आज ,

अछूती रक्खी है वह खीर ।
किसीने देखा मेरा कीर ?

रहा जो खा खा कर भी खंख,
काल निज बजा रहा है शंख,
और दुर्बल हैं उसके पंख,

एक मुट्ठी भी नहीं शरीर।
किसीने देखा मेरा कीर?

शून्य में गई जहाँ तक दृष्टि,
देख ली मैंने नभ की सृष्टि,
वहाँ भी हुई निराशा-वृष्टि,

भरा आँखों में उलटा नीर।
किसीने देखा मेरा कीर?

अँधेरा कोटर-सा पाताल,
टटोला हाथ दूर तक डाल,
न पाया मैंने अपना लाल,

रुका उलटा निःश्वास-समीर।
किसीने देखा मेरा कीर?

खोज डाला सब सागर तीर,
और आगे है केवल नीर,
अगम है वह अथाह गम्भीर,

पार उड़ गया न हो बेपीर।
किसीने देखा मेरा कीर?

कहाँ खोजूँ उसको हे राम!
तुम्हारा लेता था वह नाम,
दिखाओ मुझको अपना धाम,

फाड़ दो निज माया का चीर।
किसीने देखा मेरा कीर?

१९८३ वि०

चयन

चुन ले चला हमारा साथी सुमन कहाँ तू,
माली, कठोर माली,
केवल कराल काँटे है छोड़ता यहाँ तू,
यह रीति है निराली॥

किसको सजायगा हा! हमको उजाड़ कर यों,
यह तो हमें बता तू?
झंखाड़ छोड़ता है इस वन्य झाड़ पर क्यों!
हत देख यह लता तू॥

तेरे कठोर कर में कुम्हला रहा कुसुम है,
बिखरें न हाय! दल ये।
खोकर किरीट मणि ज्यों दुःखार्त्त आज द्रुम है,
द्विज मौन हैं विकल ये॥

भौंरे पलट रहे हैं इस शून्य वृन्त पर से,
मकरन्द कौन देगा?
आतिथ्य को उठा कर इसके सुवास घर से,
तू कौन पुण्य लेगा?

मृदु मन्द मन्द गति से शीतल समीर आकर,
दल-द्वार खड़ खड़ाता;
पर लौटता विरति से वह है सुरभि न पाकर,
निज पंख फट फटाता॥

यह फूल जो मधुर फल समयानुकूल लाता,
तू सोच देख मन में,
भगवान के लिए क्या वह भोग में न आता,
बलिदान कर भुवन में॥

हे बन्धु, जा रहे हो तुम आज टूट कर यों,
कुछ बस नहीं तुम्हारा;
हम रह गये गहन में क्यों हाय! छूट कर यों,
चारा नहीं हमारा॥

तुम आप तो कृती हो खिल कर बिना झड़े जो,
सुर-कण्ठ-हार होगे;
हत भाग्य हाय! हम हैं कांटों भरे पड़े जो,
किसने न कर्म भोगे?

१९७७ वि०

सान्त्वना

कैसी विधि है विधे, हाय ! यह कहो तुम्हारी,
ऐसी सुन्दर सृष्टि और क्षणभंगुर सारी।
इन्द्रजाल का शाल खड़ा निर्मूल किया है,
सोने का संसार बना कर धूल किया है।
बस पत्तों पर ही दृष्टि थी,
सुध बुध रही न मूल की।
चतुरानन, हो कर भी चतुर,
तुमने यह क्या भूल की॥

है विकास सर्वत्र नाश का सूचक हम में,
होकर पूर्ण सुधांशु तूर्ण मिलता है तम में।
किन्तु चन्द्र तो हाय! दृष्टि में फिर आता है;
हममें से जो गया सदा को ही जाता है।
फिर भी अपना कुछ बस नहीं,
यह विधि का व्यापार है।
हे हृदय, धैर्य्य धर, शान्त हो,
मिथ्या सोच विचार है॥

रोग, शोक, संताप सहन करने ही होंगे,
भव के भीषण भार वहन करने ही होंगे।
जैसे बीते समय बिता देना ही होगा;
जो कुछ देगा दैव हमें लेना ही होगा।
जब जन्म हुआ है मृत्यु भी,
होगी निश्चय ही कभी।
होते हैं इस संसार के,
कार्य नियति के वश सभी॥

है जिसकी यह देह उसीके मर्म हमारे,
कर्म उसीके और उसीके फल हैं सारे।
होंगे फिर सुख दुःख हमारे भला कहाँ से,
गत होंगे सब वहीं, समागत हुए जहाँ से।
हे देव, जना दो बस यही,
यदि हम इतना जानते।
तो भ्रान्त भाव से व्यर्थ ही,
हर्ष शोक क्यों मानते॥

हैं हम तो आदेश पालने वाले प्रभु के,
जड़ शरीर में जीव डालने वाले प्रभु के।
जीना है, वह कहै, कहै मरना है हमको,
इंगित के अनुसार कार्य करना है हमको।
जो कुछ उसको अच्छा लगे,
वह कर्ता करता रहे।
स्वीकार हमें है दुःख सुख
जो चाहे भरता रहे॥

कण कण में है कान्ति उसी हृदयस्थ कान्त की,
किन्तु मोह ने हाय! हमारी दृष्टि भ्रान्त की।
हम सांसारिक जीव रहीं यह तत्त्व समझते,
तो अशान्ति के जटिल जाल में कभी उलझते।
पर अब उपाय है और क्या,
उसका ही आधार है।
वह करुणा वरुणालय विदित,
विभुवर विश्वाधार है॥

हे अचिंत्य, अखिलेश, विश्व-ब्रह्माण्ड-विहारी,
शिरोधार्य्य है नाथ, हमें सब शास्ति तुम्हारी।
देव! तुम्हारा दान सदा समुचित ही होगा;
अहित न होगा कभी, हमारा हित ही होगा।
है केवल इतनी प्रार्थना,
हमें आत्मबल दीजिए।
इस दुर्गम जीवन-मार्ग में,
कभी कभी सुध लीजिए॥

सन्देश

मिट्टी में मिला हूँ या उठा हूँ उच्च अम्बर में
होगया विशाल,—लघु होकर था आया मैं।
मेरे लाख पत्रों में लिखा है इतिहास मेरा।
धन्य मातृ-मन्दिर के आँगन में छाया मैं॥
प्रभु की कृपा से फला फूला और फैला आज
त्यागता हूँ तौभी सब लोभ मोह-माया मैं।
फूलें, फलें, फैलें मुझ बीज-सम नित्य सब
आपमें समावें आप आपमें समाया मैं॥

बिदा

आँखों में आँसू भरते हैं।
वारंवार रोम कूपों में निर्झर-से झरते हैं॥
भावी की आशाएँ करके सब धीरज धरते हैं।
फिर मिलने के लिए बन्धु, हम तुम्हें बिदा करते हैं॥

संसार

संसार नाट्यालय है विचित्र,
बने यहाँ हैं हम पात्र मित्र!
रिझा सके जो प्रभु का न चित्त,
तो लाभ क्या है अपने निमित्त?

संसार है रात्रि-नभोपमान,
मनुष्य तारा-गण के समान।
प्रकाश जो व्यक्त न नाम का है,
होना हमारा किस काम का है?

कर्तव्यता की कृषि का निकेत,
संसार है एक विशाल खेत।
बोता यहाँ जो जन बीज जैसा,
होता उसे है फल लाभ वैसा ॥

संसार है एक गभीर कूप,
भरा हुआ है जल मोद-रूप।
होगा यहाँ सद्गुण जो न पास,
कहो बुझेगी किस भाँति प्यास?

संसार युद्ध-स्थल है कठोर,
हैं लोभ-मोहादिक शत्रु घोर।
विवेक-रूपी बल जो नहीं है,
तो हार ही हार सभी कहीं है ॥

संसार है एक अरण्य-भारी,
हुए जहाँ हैं हम मार्गचारी।
जो कर्म्म रूपी न कुठार होगा,
तो कौन निष्कण्टक पार होगा ॥

संसार है एक समुद्र मानों,
इसे महा दुस्तर - दीर्घ जानों।
न धर्म-नौका-अबलम्ब होगा,
तो डूबने में न विलम्ब होगा॥

सुमुक्ति - रूपी फल का विशाल,
संसार है एक रसाल शाल।
अनुन्नतात्मा जन जो यहाँ है,
रक्खी फल - प्राप्ति उसे कहाँ है?

संसार है एक कुटुम्ब भारी,
हैं बन्धु सम्पूर्ण शरीरधारी।
देखो, मिटै आपस का न मेल,
बना बनाया बिगड़े न खेल॥

१९१७ वि०

आँसू

नेत्र - गङ्गा में नहालो मानवो,
पाप - तापों को बहालो मानवो।
आँसुओं का दान करके लोक में,
कारुणीक-कृती कहालो मानवो ॥

अश्रु क्या हैं, मनुज ! पहचानों उन्हें,
क्षार जल के विन्दु मत मानों उन्हें,
स्वर्ग की शुचिता उन्हीं में है यहाँ,
अमृत के अनुभूत कण जानों उन्हें ॥

ताप जब जग का सहा जाता नहीं,
घन बरसते हैं, रहा जाता नहीं।
भूमि होती है तुरन्त हरी-भरी,
देख लो यह सब कहा जाता नहीं॥

देखते हो व्योम-भूषण सम जिन्हें,
प्रिय नहीं नक्षत्र वे शुचितम किन्हें।
कुछ कहें इन नैशदीपों को सुधी,
प्रकृति-करुणा-कण कहेंगे हम इन्हें॥

ओस के वे रत्न देखे हैं कभी?
मोद भरते हैं सुमन जिनसे सभी!
हैं तुम्हारे लोचनों में भी वही,
विश्व के भाण्डार भर जावें अभी॥

स्वाति जल को सीप का मुहँ खुल रहा,
और चातक भी उसी पर तुल रहा।
पर तुम्हारे एक ही दृग बिन्दु से,
देख लो सब लोक का मुहँ धुल रहा॥

उमड़ कर जब प्रभु-पदों तक जायगा,
सुरसरी का रूप लेकर आयगा।
एक ही उस विमल दृग जल विन्दु में,
मुक्ति होगी भव-जलधि लय पायगा॥

हृदय का अभिषेक आँखों से करो,
राजराजेश्वर बनोगे हे नरो!
वीर वर हो तो निकल कर गेह से,
जन-विजयिनी वेदना को तो वरो।

नष्ट हों त्रैताप लोचन-वृष्टि में,
दीन क्यों हो मोतियों की सृष्टि में।
भींगते हैं ईश भी याचक बने,
उस तुम्हारी एक करुणा-दृष्टि में॥

नेत्र मुक्ता हार जो पहना नहीं,
पत्थरों की बात मत कहना कहीं।
और तुम यह भी न कहना अन्त में,
रह गया सब हाय! यह गहना यहीं॥

जीवन की जय

मृषा मृत्यु का भय है,
जीवन की ही जय है।

जीवन ही जड़ जमा रहा है,
निज नव वैभव कमा रहा है,
पिता-पुत्र में समा रहा है,

यह आत्मा अक्षय है,
जीवन की ही जय है!

नया जन्म ही जग पाता है,
मरण मूढ़-सा रह जाता है,
एक बीज सौ उपजाता है,

स्रष्टा बड़ा सदय है,
जीवन की ही जय है।

जीवन पर सौ बार मरूँ मैं,
क्या इस धन को गाड़ धरूँ मैं,
यदि न उचित उपयोग करूँ मैं,

तो फिर महा प्रलय है,
जीवन की ही जय है।

१९८४ वि०

मातृ-मन्दिर

भारतमाता का मन्दिर यह,
समता का संवाद जहाँ,
सबका शिव-कल्याण यहाँ है,
पावें सभी प्रसाद यहाँ।
जाति, धर्म, या सम्प्रदाय का,
नहीं भेद-व्यवधान यहाँ,
सबका स्वागत, सबका आदर,
सबका सम सम्मान यहाँ।

राम - रहीम, बुद्ध - ईसा का,
सुलभ एक-सा ध्यान यहाँ,
भिन्न-भिन्न भव - संस्कृतियों के
गुण-गौरव का ज्ञान यहाँ।
नहीं चाहिए बुद्धि वैर की,
भला प्रेम उन्माद यहाँ,
सबका शिव-कल्याण यहाँ है,
पावें सभी प्रसाद यहाँ।

सब तीर्थों का एक तीर्थ यह,
हृदय पवित्र बना लें हम,
आओ, यहाँ अजातशत्रु बन,
सबको मित्र बना लें हम।
रेखाएँ प्रस्तुत हैं, अपने
मन के चित्र बना लें हम,
सौ सौ आदर्शों को लेकर,
एक चरित्र बना लें हम।

कोटि कोटि कण्ठों से मिलकर,
उठे एक जयनाद यहाँ,
सबका शिव-कल्याण यहाँ है,
पावें सभी प्रसाद यहाँ।

मिला सत्य का हमें पुजारी,
सफल काम उस न्यायी का,
मुक्ति - लाभ कर्त्तव्य यहाँ है,
एक एक अनुयायी का।
बैठो माता के आँगन में,
नाता भाई - भाई का,
समझे उसकी प्रसव - वेदना,
वही लाल है माई का।
एक साथ मिल बैठ बाँट लो,
अपना हर्ष - विषाद यहाँ,
सबका शिव-कल्याण यहाँ है,
पावें सभी प्रसाद यहाँ।

आर्य्य-भार्या

तू धन्य आर्य्य-भार्ये, तू प्रेम-राज्य रानी !
प्रत्येक धाम तेरी है रम्य राजधानी।

लक्ष्मी स्वरूपिणी तू सुख है सदैव देती ;
बनता अहा ! अमृत है तेरा पुनीत पानी ॥
प्रिय की अधीनता वह परतंत्रता नहीं है ;
परिणाम में कि जिसके सन्मुक्ति है समानी।
उत्सर्ग आपको ही तू आप कर चुकी है,
त्रैलोक्य में नहीं है तेरे समान दानी ॥

हे देवि, घर हमारे मन्दिर बने तुझीसे ;

सब दुःख दूर करती सन्तोष पूर्ण वाणी।

शुचि अग्निदेव साक्षी तेरे सतीत्व का है ;

इतिहास कह रहा है तेरी करुण कहानी॥

ममता-मयी, कहीं भी समता मिली न तेरी ;

भारत हुआ तुझीसे भू स्वर्ग, लोक मानी।

अर्द्धांगिनी बनाते कैसे तुझे न हिन्दू ?

शिव शक्ति-हीन शव हों जो छोड़ दे भवानी॥

कविता

कविता से सप्रेम कहा मैंने, "वर मुझको,
दूँगा मैं उपहार अलङ्कारों के तुझको।"
बोली तब वह कि "मैं चाहती हूँ कब इनको,"
पूछा मैंने—"भला खोजती है फिर किसको?"
"जो मुझे हृदय का दान दे,"
कविता ने उत्तर दिया,—
"वह कोई हो मैंने उसे,
अपना करके वर लिया॥"

काट-छाँट

"कोकिल ! क्यों तू 'कु-ऊ कु-ऊ' कहता रहता है ,
करके उसमें सन्धि क्यों न कू - कू कहता है ?"
"आलोचकजी, रीति मुझे भी यह जँचती है ,
बात वही है और एक मात्रा बचती है ।
सुनिए, वह उल्लू व्याकरण
कैसा अच्छा जानता ।
है 'घु-ऊ घु-ऊ' कह कर न जो ,
'घू - घू' मात्र बखानता ।।"

२१।७२ वि०

अन्वेषण

"कठिन धूप में दौड़ रहा है हरिण ! कहाँ तू ?
हाय ! हाय ! मर रहा व्यर्थ क्यों आज यहाँ तू ?"
"जीवन धन के लिए सभी यह श्रम है मेरा ,"
"पर जीवन - धन कहाँ, अरे वह भ्रम है तेरा ।"
"क्या कहा कि जीवन-धन नहीं ,
दौड़ा जाता हूँ जहाँ ?
वह न हो, किन्तु आभास तो
मिलता है उसका वहाँ ॥"

संलाप

थक कर तनु ने कहा—"नहीं अब कुछ वश मेरा।"
मैंने मन से कहा—"राम रक्षक है तेरा।"

× × × ×

कृषि से बोला मेघ—"बढ़ाता हूँ मैं तुझको,
अपना जीवन मूल मानती रहना मुझको।"
कृषि बोली—"फिर मुझे मारते हो पत्थर क्यों?
प्रिय हो, पर तुम कभी कभी हो निष्ठुरतर क्यों?"

× × × ×

बोला घन गम्भीर - गिरा - पूर्वक भूतल से—
"करता हूँ मैं आर्द्र तुझे कैसा निज बल से?"
भूतल ने तब कहा कि—"इसमें क्या संशय है,
मिला कहाँ से भला तुम्हें यह पावन पय है?"

× × × ×

घनमाला ने कहा सूर्य्य के सम्मुख जाकर—
"तेरा सारा तेज देखती हूँ मैं आकर!"
बोला रवि मुँह फेर कि—"यह उसका ही फल है,
स्वकरों से जो तुझे पिलाया मैंने जल है!"

× × × ×

बोली राका कि—"है अमावस्या तू काली;
फैल रही है किन्तु देख मेरी उजियाली।"
कहा अमा ने—"स्वत्व किन्तु मेरा क्या कम है?
दिया गया अधिकार यहाँ दोनों को सम है।"

× × × ×

फल से तरु ने कहा कि—"मैं गौरव हूँ तेरा,
रखता है अभिलाष देख सब कोई मेरा।"
"ऐसा गौरव नहीं चाहिए"—बोला तरुवर—
"इसीलिए हैं लोग मारते मुझको पत्थर।"

× × × ×

कहा बाण ने—"काम दूर तक मैं ही दूँगा,"
बोला चाप—"परन्तु सहायक जब मैं हूँगा।"
प्रत्यञ्चा ने कहा—"कहो सब अपनी अपनी,"
कर बोला—"है मुझे मौन माला ही जपनी॥"

× × × ×

बोला विकल पतङ्ग दीप में जलता जलता,
"फल ऐसा ही स्नेह-विटपि पर है क्या फलता?"
कहा दीप ने—"महा कठिन है इसका धारण,
पहले ही जल रहा यहाँ मैं जिसके कारण॥"

× × × ×

बोला चुम्बक—"नीति - रीति कैसी है मेरी ,"
कहा सार नें—"प्रीति खींच लाती है तेरी ॥"

× × × ×

"मैं हूँ कैसी श्रान्तिहारिणी ?"—बोली छाया ,
आतप बोला—"तभी मुझे है तेरी माया ?"

× × × ×

कहा वृक्ष ने—"उच्च और उपकारी हूँ मैं ,"—
बोली बल्ली—"तभी सदैव तुम्हारी हूँ मैं ॥"

× × × ×

कहा अनल ने—"अहा ! तेज मेरा है कितना ।"
जल ने उत्तर दिया कि—"मैं शीतल हूँ जितना !"

× × × ×

कहा व्योम ने—"भूमि ! पड़ी नीचे तू मरती ,"—
"क़िन्तु शून्य तो नहीं"—व्योम से बोली धरती ॥

× × × ×

कहा मुरज ने—"ताल गल-स्वर का गहना है।"
थपकी देकर बोल उठा कर—"क्या कहना है!"

× × × ×

कहा वृषभ ने—"स्कन्ध सबल सुन्दर है किसका?"
कहा जुँवें ने कि—"मैं बनूँ आरोही जिसका!"

× × × ×

असि बोली—"है कौन सहायक और समर में?"
"हाँ, जो रक्षा करे"—ढाल बोली उत्तर में॥"

× × × ×

कर्णिकार ने कहा—"रङ्ग कैसा है मेरा?"
कहा बकुल ने—"और गन्ध कैसा है तेरा?"

× × × ×

"तू काली है" उर्वरा सुन ऊसर की बात
बोली—"मेरा दोष यह तेरा गुण हो तात।"

× × × ×

निर्झर

शत शत बाधा-बन्धन तोड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़।

प्लावित कर पृथ्वी के पर्त्त,
समतल कर बहु गह्वर गर्त्त,
दिखला कर आवर्त्त-विवर्त्त,

आता हूँ आलोड़ विलोड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़।

पारावार - मिलन की चाह,
मुझे मार्ग की क्या परवाह ?
मेरा पथ है स्वतः प्रवाह,

जाता हूँ चिर जीवन जोड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़।

गढ़ कर अनगढ़ उपल अनेक,
उन्हें बना कर शिव सविवेक,
करके फिर उनका अभिषेक,

बढ़ता हूँ निज नवगति मोड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़।

हरियाली है मेरे संग,
मेरे कण कण में सौ रंग,
फिर भी देख जगत के ढंग,

मुड़ता हूँ मैं भृकुटि मरोड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़।

धरकर नव कलरव निष्पाप,
हर कर सन्तप्तों का ताप,
अपना मार्ग बनाकर आप,

जाऊँ सब कुछ पीछे छोड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़।

है सबका स्वागत - सम्मान,
करे यहाँ कोई रस-पान,
मेरा जीवन गतिमय गान,

काल ! तुझीसे मेरी होड़,
निकल चला मैं पत्थर फोड़।

१९९१ वि०

वैतालिक

ऊषा ने आँगन लीप दिया ;
नव किरणों ने चौक पूर कर मङ्गल-कलश लिया ।
कर्म्म वीर-वर उठो, द्विजों ने मन्त्रोच्चार किया ;
कीर्ति-बधू के कर-ग्रहण से हुलसे आज हिया ॥

प्रणाम

बहु कलकण्ठ खगों के आश्रय ,
पोषक या प्रतिपाल प्रणाम ।
भव - भूतल को भेद गगन में
उठने वाले शाल, प्रणाम ॥

हरे - भरे, आँखों को शीतल
करने वाले, तुम्हें प्रणाम ,
छाया देकर पथिकों का श्रम
हरने वाले, तुम्हें प्रणाम ।

अटल अचल, न किसी बाधा से
डरने वाले तुम्हें प्रणाम,
शुद्ध सुमन - सौरभ समीर में
भरने वाले, तुम्हें प्रणाम।
देने वाले औरों को ही
सारे स्वफल रसाल, प्रणाम,
भव-भूतल को भेद गगन में
उठने वाले शाल, प्रणाम॥

व्रत में रत, आतप, वर्षा, हिम
सहने वाले, तुम्हें प्रणाम,
स्वावलम्ब युत, उन्नत भी नत
रहने वाले, तुम्हें प्रणाम।
खींच रसातल से भी रस को
गहने वाले, तुम्हें प्रणाम;
सब कुछ करके भी न कभी कुछ
कहने वाले तुम्हें प्रणाम।

जन्मभूमि के छत्र, पत्रमय,
अहो समुन्नत भाल, प्रणाम,
भव - भूतल को भेद गगन में
उठने वाले शाल, प्रणाम ॥

विस्तृत शत भुज - शाखाओं से
देने वाले वीर, प्रणाम,
हिमकण से प्रभुदत्त वज्र तक
लेने वाले धीर, प्रणाम।
विविध - कालदर्शी साक्षी - सम,
बद्ध - मूल, गम्भीर, प्रणाम,
सभी दशाओं में सदैव ही
परहित - हेतु - शरीर, प्रणाम।
क्रम क्रम से सर्वस्व त्याग कर
स्थाणुमूर्ति चिरकाल प्रणाम,
भव-भूतल को भेद गगन में
उठने वाले शाल, प्रणाम ॥

स्वर्गीय-संगीत

[१]

पुरुष हो, पुरुषार्थ करो उठो।

पुरुष क्या, पुरुषार्थ हुआ न जो;
हृदय की सब दुर्बलता तजो।
प्रबल जो तुममें पुरुषार्थ हो—
सुलभ कौन तुम्हें न पदार्थ हो?
प्रगति के पथ में विचरो उठो;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो॥

न पुरुषार्थ विना कुछ स्वार्थ है;
न पुरुषार्थ विना परमार्थ है।
समझ लो, यह बात यथार्थ है—
कि पुरुषार्थ वही पुरुषार्थ है।
भुवन में सुख-शान्ति भरो उठो;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो॥

न पुरुषार्थ विना वह स्वर्ग है ;
न पुरुषार्थ विना अपवर्ग है।
न पुरुषार्थ विना क्रियता कहीं,
न पुरुषार्थ विना प्रियता कहीं।
सफलता वर-तुल्य वरो, उठो ;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

न जिसमें कुछ पौरुष हो यहाँ—
सफलता वह पा सकता कहाँ ?
अपुरुषार्थ भयङ्कर पाप है ;
न उसमें यश है, न प्रताप है।
न कृमि-कीट-समान मरो, उठो ;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

मनुज जीवन में जय के लिए—
प्रथम ही दृढ़ पौरुष चाहिए।
विजय तो पुरुषार्थ विना कहाँ ;
कठिन है चिरजीवन भी यहाँ।
भय नहीं, भव-सिन्धु तरो, उठो ;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

यदि अनिष्ट अड़ें, अड़ते रहें ;
विपुल विघ्न पड़ें, पड़ते रहें।
हृदय में पुरुषार्थ रहे भरा—
जलधि क्या, नभ क्या, फिर क्या धरा ?
दृढ़ रहो, ध्रुव धैर्य्य धरो, उठो ;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

यदि अभीष्ट तुम्हें निज सत्व है ;
प्रिय तुम्हें यदि मान महत्व है।
यदि तुम्हें रखना निज नाम है ;
जगत में करना कुछ काम है।
मनुज ! तो श्रम से न डरो, उठो ;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

प्रकट नित्य करो पुरुषार्थ को,
हृदय से तज दो सब स्वार्थ को।
यदि कहीं तुमसे परमार्थ हो—
यह विनश्वर देह कृतार्थ हो।
सदय हो, पर-दुःख हरो, उठो ;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

[२]

नर हो, न निराश करो मन को।

कुछ काम करो, कुछ काम करो,
जग में रहके निज नाम करो।
यह जन्म हुआ किस अर्थ अहो!
समझो, जिसमें यह व्यर्थ न हो।
कुछ तो उपयुक्त करो तन को,
नर हो, न निराश करो मन को॥

सँभलो कि सु-योग न जाय चला,
कब व्यर्थ हुआ सदुपाय भला?
समझो जग को न निरा सपना,
पथ आप प्रशस्त करो अपना।
अखिलेश्वर हैं अवलम्बन को,
नर हो, न निराश करो मन को॥

जल-तुल्य निरन्तर शुद्ध रहो,
प्रबलानल ज्यों अनिरुद्ध रहो।
पवनोपम सत्कृतिशील रहो,
अवनीतल वद् धृतिशील रहो।
करलो नभ-सा शुचि जीवन को,
नर हो, न निराश करो मन को॥

जब हैं तुममें सब तत्त्व यहाँ,
फिर जा सकता वह सत्त्व कहाँ?
तुम स्वत्व - सुधा - रस पान करो,
उठके अमरत्व-विधान करो।
दव - रूप रहो भव-कानन को,
नर हो, न निराश करो मन को॥

निज गौरव का नित ज्ञान रहे,
"हम भी कुछ हैं"—यह ध्यान रहे।
सब जाय अभी, पर मान रहे,
मरणोत्तर गुञ्जित गान रहे।
कुछ हो, न तजो निज साधन को,
नर हो, न निराश करो मन को॥

प्रभु ने तुमको कर दान किये,
सब वांछित वस्तु-विधान किये।
तुम प्राप्त करो उनको न अहो!
फिर है किसका यह दोष कहो?
समझो न अलभ्य किसी धन को,
नर हो, न निराश करो मन को॥

किस गौरव के तुम योग्य नहीं?
कब, कौन तुम्हें सुख भोग्य नहीं?
जन हो तुम भी जगदीश्वर के,
(सब हैं जिसके अपने, घर के)
फिर दुर्लभ क्या उसके जन को?
नर हो, न निराश करो मन को॥

करके विधि-वाद न खेद करो,
निज लक्ष्य निरन्तर भेद करो।
बनता बस उद्यम ही विधि है,
मिलता जिससे सुख का निधि है।
समझो धिक निष्क्रिय जीवन को,
नर हो, न निराश करो मन को॥

वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ।

विचार लो कि मर्त्य हो, न मृत्यु से डरो कभी ;
मरो, परन्तु यों मरो कि याद जो करें सभी !
हुई न यों सु - मृत्यु तो वृथा मरे, वृथा जिये ;
मरा नहीं वही कि जो जिया न आपके लिये ।
यही पशु - प्रवृत्ति है कि आप आपही चरे ,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥

उसी उदार की कथा सरस्वती बखानती ;
उसी उदार से धरा कृतार्थ - भाव मानती ।
उसी उदार की सदा सजीव कीर्ति कूजती ;
तथा उसी उदार को समस्त सृष्टि पूजती ।
अखण्ड आत्मभाव जो असीम विश्व में भरे ,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥

क्षुधार्थ रन्तिदेव ने दिया करस्थ थाल भी,
तथा दधीचि ने दिया पदार्थ अस्थिजाल भी।
उशीनर-क्षितीश ने स्वमांस दान भी किया,
सहर्ष वीर कर्ण ने शरीर चर्म्म दे दिया।
अनित्य देह के लिए अनादि जीव क्या डरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

सहानुभूति चाहिए, महा विभूति है यही;
वशीकृता सदैव है बनी हुई स्वयं मही।
विरुद्ध-वाद बुद्ध का दया-प्रभाव में बहा;
विनीत लोक वर्ग क्या न सामने झुका रहा?
अहा! वही उदार है परोपकार जो करे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

रहो न भूल के कभी मदान्ध तुच्छ वित्त में,
सनाथ जान आपको करो न गर्व चित्त में।
अनाथ कौन है यहाँ त्रिलोकनाथ साथ हैं;
दयालु दीनबन्धु के बड़े विशाल हाथ हैं।
अतीव भाग्यहीन है अधीर भाव जो भरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

अनन्त अन्तरिक्ष में अनन्त देव हैं खड़े,
समक्ष ही स्व - बाहु जो बढ़ा रहे बड़े बड़े।
परस्परावलम्ब से उठो, तथा बढ़ो सभी;
अभी अमर्त्य - अंक में अपङ्क हो चढ़ो सभी।
रहो न यों कि एक से न काम और का सरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

"मनुष्य मात्र बन्धु हैं" यही बड़ा विवेक है;
पुराण पूरुष स्वभू पिता प्रसिद्ध एक है।
फलानुसार कर्म्म के अवश्य बाह्य भेद हैं,
परन्तु अन्तरैक्य में प्रमाणभूत वेद हैं।
अनर्थ है कि बन्धु ही न बन्धु की व्यथा हरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

चलो अभीष्ट मार्ग में सहर्ष खेलते हुए,
विपत्ति - विघ्न जो पड़ें उन्हें ढकेलते हुए।
घटे न हेलमेल हाँ, बढ़े न भिन्नता कभी,
अतर्क एक पन्थ के सतर्क पान्थ हों सभी।
तभी समर्थ भाव है कि तारता हुआ तरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे॥

[४]

मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ।

बना लो जहाँ, हाँ, वहीं स्वर्ग है,
स्वयम्भूत थोड़ा कहीं स्वर्ग है।
खलों को कहीं भी नहीं स्वर्ग है,
भलों के लिए तो यहीं स्वर्ग है।
सुनो, स्वर्ग क्या है, सदाचार है,
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है॥

नहीं स्वर्ग कोई धरा - वर्ग है,
जहाँ स्वर्ग के भाव हैं, स्वर्ग है।
सुखी नारकी जीव भी हो गये—
वहाँ धर्म्मराज स्वयं जो गये।
कदाचार ही रौरवागार है;
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है॥

यहीं स्वर्ग चाहे बना लीजिए,
यहीं नारकी सृष्टियाँ कीजिए।
नहीं कौन सी साधना है यहाँ?
वहीं सिद्धि है साधना है जहाँ।
महा - साधना - क्षेत्र संसार है,
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है॥

स्वयं क्यों न संसार निःसार हो,
भले ही यहाँ मृत्यु - सञ्चार हो।
नहीं किन्तु विश्वेश है क्या यहाँ?
जहाँ इष्ट है क्या नहीं है वहाँ?
शरीरस्थ कर्ता क्रियाधार है,
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है॥

जहाँ ज्ञान है, कर्म्म है, भक्ति है,
भरी जीव में ईश्वरी शक्ति है।
जहाँ भुक्ति में मुक्ति का धाम है,
जहाँ मृत्यु के बाद भी नाम है।
वही भव्य संसार क्या भार है?
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है॥

यहीं प्रेम है, द्रोह भी है यहीं;
यहीं ज्ञान है, मोह भी है यहीं;
यहीं पुण्य है, पाप भी है यहीं;
यहीं शान्ति, संताप भी है यहीं।
कहो, क्या तुम्हें आज स्वीकार है?
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है॥

जहाँ स्वार्थ का सर्वथा त्याग है,
सभी के लिए एक-सा भाग है।
जहाँ लोक-सेवा महा धर्म्म है,
जहाँ कामना छोड़ के कर्म्म है,
वहाँ आप ही आप उद्धार है,
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है॥

यहाँ कल्पशाखी स्वयं हैं हमीं,
करें यत्न तो है हमें क्या कमी?
भरा कीर्ति में ही सुधा-सत्व है,
मनुष्यत्व ही दिव्य देवत्व है।
यही स्वर्ग-संगीत का सार है
मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है॥

शब्द के प्रति

सागर भरा तुम्हारे घट में,
विश्रुत तुम बहु वृत्त - विधान ;
भरे रहें भाण्डार तुम्हारे,
अहो शब्द ! ओ अर्थ - निधान !

जननी सरस्वती के छौने,
मधुर सलौने, शुचि, सोत्साह ;
तुम्हीं खिलौने मुग्धामति के,
तुम्हीं ज्ञान के पुतले वाह !
खेलो - कूदो, हँसो - हँसाओ,
करो चित्त की पूरी चाह ;
आह ! तुम्हारे रोने में भी
रहता है क्या रस-प्रवाह !

हे भावों के चित्र बोलते !
गाओ तुम निज नव-नव गान;
भरे रहें भाण्डार तुम्हारे,
अहो शब्द ! ओ अर्थ-निधान !

जीते रहो, जगत है जब तक,
तुम ध्वनि के जीवन-धन प्राण;
लो अनुभूति-विभूति विश्व की,
तुम्हीं करोगे उसका त्राण।
तुम सजीव संकेत हमारे,
आत्म-सिद्धि के स्वतः प्रमाण;
तुम्हीं प्रकाशक सत्य - तत्त्व के,
तुम्हीं कल्पना के कल्याण !
तव सुवर्ण-पात्रों में, हम सब
करें सदा कर्णामृत - पान;
भरे रहें भाण्डार तुम्हारे,
अहो शब्द ! ओ अर्थ - निधान !

१९८५ वि०